योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 30 अगस्त, 1997 अंक 5

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) – 283202

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

☐

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'

❀

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

❀

श्री गोविन्द सोनी

❀

ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा

अगस्त 1997

इस अंक के लेख

☐ बड़ा आश्चर्य ! 1

☐ अमृत कण 2

☐ अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण और उनका योग-ऐश्वर्य (विशेष लेख) 3
–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

☐ योग साधना एवं सिद्धियाँ (सम्पादकीय) 6

☐ किमस्ति योग 8
–द्वारका प्रसाद शर्मा

☐ दो कविताएँ-(1) तत्त्व विसर्जन (2) आत्म संयम 13
–पं० महेश चौहरे ज्योतिविद्

☐ अवश्यमेव भोक्तव्यम् जन्म कर्म शुभाशुभ 14
–पं० राजेन्द्रप्रसाद पाठक

☐ बिन दीक्षा के मनुष्य अधूरा है 20
–नारायणदत्त शर्मा

☐ सद्गुरु कृपा बिना आत्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं 22
–डा० ओमप्रकाश ब्रह्मचारी, एडवोकेट

☐ सिद्धयोग ही क्यों ? 26
–कृष्णानन्द गुप्त

☐ गुरु भक्त बालक उत्तंक 30
–सुरेन्द्र बहादुर एम. ए., दर्शनशास्त्र

☐ श्रद्धा क्या ? लक्षण, उपयोगिता और महत्त्व 33
–देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

☐ पत्र-पुष्प-फल-तोयम् 38
–संकलनकर्त्ता—कुमारी सम्पदा शर्मा

☐ विवेकानन्द ने कहा था 40

★

वार्षिक शुल्क रु० 65/- एक प्रति रु० 6/-
द्विवार्षिक शुल्क रु० 120/- आजीवन शुल्क रु० 651/-

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षणकेन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 30 अंक 5	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तष्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान् योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	अगस्त 1997

बड़ा आश्चर्य है !

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती।
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।।
आयुः परिस्त्रवति भिन्नघटादिवाम्भो।
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्।।

अर्थ

बुढ़ापा व्याघ्री की तरह तर्जना देता हुआ खड़ा है, रोग शत्रु की तरह शरीर पर प्रहार करते हैं। कच्चे घट से जिस प्रकार पानी स्त्रवित हो जाता है उसी प्रकार आयु दिन-दिन क्षीण हो रही है। तो भी लोग अपने-अपने अहित आचरण में लगे हुए हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अमृत कण

प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशुः बुद्धि पर्यवतिष्ठते।।

अर्थ

और इस बुद्धि प्रसाद को पा करके उस साधक के सभी दुःख हट जाते हैं एवम् प्रसन्न चित्तता से बहुत शीघ्र ही बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।

अर्थ

जिस व्यक्ति का अपने पर कोई नियंत्रण नहीं है वह अयुक्त नहीं है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती और न ही उसकी भावना उत्कृष्ट हो सकती है जिसकी भावना निष्ठा नहीं उसको शान्ति कहाँ जिसको शान्ति नहीं उसको शाश्वत सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

विशेष लेख

अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण और उनका योग-ऐश्वर्य

योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

जगदात्मा अखिल लोकपावन भगवान श्री कृष्ण के विषय में श्रीमद्भागवत या अन्यान्य पुराणों में उनके परात्पर होने का निर्देश मिलता है। यथा:-

श्रीमद्भागवत के उपाख्यान में जिस समय श्री ब्रह्मा जी या अन्यान्य सभी देवों को साथ लेकर और गौ रूप धारणी अश्रुमुखी पृथ्वी को साथ लेकर क्षीर सागर पर गए और वहाँ जाकर क्षीरोधि दशायी भगवान नारायण की स्तुति करनी आरम्भ की। देवताओं की विनती सुन भगवान विष्णु ने उनको उत्तर दिया था। उत्तर एक अव्यक्त वाणी के रूप में था जो इस प्रकार है—क्षीर सागर पर पुरुष सूक्त के द्वारा भगवान नारायण की स्तुति करने के बाद श्री ब्रह्मा जी को अपने हृदयाकाश में समाधि के द्वारा जो भगवान नारायण की वाणी सुनायी दी थी वह पौरुषी वाणी उन्होंने समाधि से उठ करके देवताओं को सुनाई थी और स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि मुझे समाधि में जो भगवान नारायण की वाणी सुनाई दी है वह मैं तुम्हें बतलाता हूं और उस वाणी के अनुसार तुम लोग जा करके यदुकुल में जन्म ले लो क्योंकि उस वाणी ने मुझे यह कहा है कि वसुदेव जी के घर में स्वयं भगवान पर-पुरुष प्रादुर्भूत होंगे और उनके आमोद-प्रमोद के लिए देवलोक की देवांगनाएँ भी भूमण्डल पर जाकर जन्म ले लें। श्रीमद्भागवत के इस प्रकरण से और इसी प्रकार के पुराणों के अन्तर्गत आए हुए अन्यान्य प्रकरणों से श्रीकृष्ण का पर-पुरुष होना अनायास ही सिद्ध हो जाता है, देवकी ने भगवान के प्रगट होने पर जो स्तुति की वह इस प्रकार है:-

यस्यांशांशभागेन विश्वोत्पत्ति लयोदयाः भवन्तिकिल विश्वात्मंस्तंत्वाद्यहं गतिं गता।।

अर्थात् हे प्रभो जिसके अंशाअंश को धारण करके ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि प्रमुख देव सृष्टि का पालन पोषण व संहार करते है उस सब के आधार आप ही हैं। इसी प्रकार से ब्रह्म स्तुति में इन्द्र के द्वारा की गई स्तुति में श्रीमद्भागवत में और अन्यान्य पुराणों में भी श्रीकृष्ण का वर्णन पर-पुरुष के रूप में किया गया है इसलिए वह अनादि काल से ही रहने वाले महासिद्ध हैं इसमें कोई संशय की बात नहीं। यहाँ पर योग-दर्शन में भगवान श्री पतंजलि देव महाराज जी ने ईश्वर का लक्षण-

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।। जो अविद्या आदि क्लेश, कर्म, कर्म विपाक तथा कर्माशय के बन्धन से परे है, वह पुरुष विशेष ईश्वर है" इस सूत्र पर श्री भगवान् व्यासदेव जी भाष्य करते हुए लिखते है-

यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धः कोटिः प्रजायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृति-लीनस्योतरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते- नैवमीश्वरस्य, सतु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इतिः।

अर्थात् जो लोग तीन बन्धनों को काट कर मुक्ति को प्राप्त होते है वे पहले बन्धन में और जो योगी लोग प्रकृतिलीन है और अपने आपको

कैवल्य पद में विलीन समझ रहे हैं वे बाद में पुनः बन्धकोटि के अन्दर आ जाएँगे किन्तु ये सारे के सारे ईश्वर के साथ नहीं होते। इसलिए वह ईश्वर हमेशा ही मुक्त है और हमेशा ही ईश्वर है। उसका ऐश्वर्य, साम्यात्स्य विनिर्मुक्त है। अतः अखिल आत्मा भगवान श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य भी साम्यात्स्य विनिर्मुक्त है। इसलिए उनका आदि महासिद्ध होना अनायास ही सिद्ध है। भगवान श्री कृष्ण को लीलावतार कहते हैं किन्तु उनके जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ उनको एक सरल ऐश्वर्य सम्पन्न योगीराज का ही अवतार सिद्ध करती हैं। जन्म से लेकर स्वधागमन तक उनकी जितनी भी लीलाएँ हुई हैं उन सभी में से एक-एक से योग टपकता है। उनका कारावास में जन्म लेना और जन्म भी एक अद्‌भुत जन्म जिस प्रकार संसार में कोई बालक जन्म नहीं लिया करता उसके अतिरिक्त विलक्षण ढंग से अपनी माता के सामने अपने दिव्य चतुर्भुज, रूप से प्रकट होना जैसे कि श्रीमद्‌भागवतमें लिखा है:-

वसुदेव जी ने देखा कि उनके सामने किरीट, कुन्डल एवं वरमाला धारण किए हुए मेघ वर्ण सुन्दर श्याम शरीर वाला और अपनी चारों भुजाओं में शंख चक्र गदा, पद्‌म धारण किए हुए एक सुन्दर बालक खड़ा है। इसी प्रकार से देवकी ने उनके रूप को देखा और उस अद्‌भुत रूप को देखकर उस महायोगीराज के उस तेज को सहन न कर सकी और उसने विनम्र भाव से प्रार्थना की कि हे प्रभो- इस धारणा ध्यान के लिए मंगलमय जो आपके दिव्य चतुर्भुज स्वरूप हैं वह हम हाड़-माँस चमड़े के शरीर धारण करने वाले साधारण मनुष्य लोक के जीव इसके अधिकारी नहीं हैं। इस समय आपने मेरे उदर से जन्म लेने का जो अभिनय किया है, इसलिए अपने इस अलौकिक दिव्य रूप तेज को छिपाकर साधारण मनुष्य रूप में मेरे सामने प्रगट होइए। अपनी माता देवकी को इस प्रकार भयभीत देखकर अपने उस दिव्य चतुर्भुज रूप से अन्तर्हित होकर उसके सामने अपनी योगमाया से बालक रूप में प्रगट हो गए। इस प्रकार अपने अद्‌भुत चतुर्भुज रूप का माता के सामने प्रगट करना और फिर उसको छिपा लेना ये उनकी स्वाभाविक योग शक्ति का अद्‌भुत प्रभाव था। किन्तु एक साधक सिद्ध योगी के लिए ये क्रिया अपनी साधना के बल पर आधारित है और उसको संयम के द्वारा ही ऐसा करना पड़ेगा। किन्तु आदि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिए यह न के बराबर सहज कर्म था।

पतंजलि योगदर्शन व अन्तर्ध्यान क्रिया

भगवान पतंजलि देव अपने योग सूत्र में बतलाते हैं:-

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्य शक्ति स्तम्भे चक्षुः प्रकाशा संप्रयोगेऽन्तर्धानम्।।

अर्थात जिस समय योगी अपने संयम के बल से काया के रूप में अपने मन को संयमित करता है उस समय अपने शरीर पर सर्वसाधारण की आँखों का प्रभाव नहीं पड़ सकता, चक्षुः प्रकाशसंयोग होने के कारण वह अपने आप को छिपा लेता है। ये साधना साधन सिद्ध योगी को अपने योग सिद्ध ऐश्वर्य के बल पर संयम के बल से करनी पड़ेगी। किन्तु महायोगी ईश्वर सिद्धों के महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिए यह अद्‌भुत कर्म कुछ भी कर्म नहीं रखता। उन्होंने अपने माता-पिता के सामने अपने दिव्य चतुर्भुज तेजोमय स्वरूप को प्रकट करके दिखला भी दिया और तत्काल उनकी विनय करने पर अपने उस दिव्य रूप को छिपा भी लिया और तत्काल ही सहजकाय रूप निर्माण शक्ति से अपने आपको बालक रूप में प्रकट भी कर दिया। यह उन महायोगेश्वर की योग ऐश्वर्य की पहली झलक थी जो देव की, वसुदेव ने अपनी आँखों से देखी। इसके बाद उन्होंने अपने योग बल से बाल लीला आरम्भ की जिस कथा प्रसंग को प्रायः सभी कृष्ण भक्त सभी जानते ही हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण का सहज शुभसकंल्प

कंस के कारागार से श्री वसुदेव जी भगवान् बालरूप श्रीकृष्ण को गोकुल पहुँचा आए थे। कंस के कारागार के दरवाजों का अपने आप खुल जाना और वसुदेव के लौट आने पर पुनः उसी प्रकार बन्द हो जाना यह उनके स्वाभाविक शक्ति संकल्प का ही परिणाम था। केवल मात्र संकल्प में आना ही उन सब कामों का जनक था। उनके लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं थे।

सत्य प्रतिष्ठायां कियाफलाश्रयत्वम्।

अर्थात सत्य प्रतिष्ठ योगी की वाणी क्रिया फल वाली हो जाया करती है और ज्योंहीं मनुष्य बाह्य रूप से सत्य की साधना करता हुआ समाधि के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करता है तो वह सत्य संकल्प हो जाता है। उसको अनायास ही सिद्धि प्राप्त रहा करती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का अर्थ ऋत-सत्यं बिभर्ति या ऋतम्भरा अर्थात् जिस योगी की बुद्धि सत्य को धारण करती है वह ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त योगी जो भी मन में संकल्प करता है, प्रकृति उसको स्वीकार कर लेती है, और उसके संकल्पित कार्य अनायास ही होने लग जाया करते हैं। यह साधारण मनुष्य अपने साधन के बल से प्राप्त कर पाता है, किन्तु अनादि महासिद्ध भगवान श्रीकृष्ण के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है। वे स्वंय सत्य स्वरूप है श्रीमदभागवत के दसवें स्कन्ध के दूसरे अध्याय में जहाँ पर गर्भ स्तुति की गई है वहां पर ब्रह्मा जी ने उनकी स्तुति करते हुए उनको सत्यात्मक कहा है:-

सत्यंव्रतं सत्य परं त्रिसत्यम्
सत्यस्य योनिनिहितं च सत्ये
सत्यस्य सत्यमृत सत्यनेत्रम्
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।

अर्थात् ब्रह्मा जी करबध्द स्तुति करते हुए उससे प्रार्थना करते हैं कि सदा सर्वथा सत्य रहने वाले सत्य परायण सत्यात्मक हम आपकी शरण में होते हैं। इसलिए सत्य संकल्प अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिए कारागार के दरवाजों का खुल जाना और उनके लौट आने पर फिर बन्द हो जाना एक बहुत साधारण कर्म था किन्तु यह शक्ति साधक योगी के लिए बड़ी कठिन साधना के बाद प्राप्य है। इसके बाद भगवान की गोकुल लीलायें आरम्भ होती हैं। नन्दराय जी ने उनका वार्षिकोत्सव मनाया। गीत, वाद्य आदि के सब उपक्रम हुए और उसके बाद भी जिस समय नन्दराय जी कंस को वार्षिक कर देने के लिए गए हुए थे उसी सुअवसर को पाकर पुतना सुन्दर रूप धारण कर गोकुल में आ गई और धुम-धाम करके नन्द के घर में पहुंची और अनायास ही बालक रूप में छिपे उस परम योगेश्वर को अपनी गोद में लेकर अपने विषमय स्तनों का पान कराया किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला प्रत्युत श्रीकृष्ण के शरीर पर असह्य विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और जैसे के तैसे अपने दिव्य स्वरूप में अमर रहे और खेलते रहे। इसके विपरीत पुतना के प्राण पखेरु उड़ गए एवं श्री कृष्ण के संकल्प से उसने सदगति पायी। यह उस अनादि महासिद्ध की सहज वशिता थी जिसमें पंच महा भूतों पर पूर्णाधिकार था, जिसमें उनके किसी प्रकार की कोई साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। क्योंकि यह उनका सदैव ईश्वरः सदैव मुक्तः कथनानुसार सहज ही है। यद्यपि साधन करने वाला योगी साधन-सिद्धता को पाकर इस शक्ति को प्राप्त कर लेता है किन्तु ये उसकी साधन सिद्धता है और अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण का यह सहज वशिकार है। हमें योगदर्शन बतलाता है-

"परमाणु परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः"

अर्थात् योगी का संयम बल इतना बढ़ जाता है कि वह चाहे परमाणुओं से लेकर परम महत्व अर्थात् मूल प्रकृति पर्यन्त पूर्ण वशीकार रखता है। जहां भी जिस वस्तु में अपने को संयमित करता है, उस तत्त्व को जान लेता है। और उस पर वह अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी बल के आधार पर भूतजय की शक्ति को प्राप्त करता है। (क्रमशः)

सम्पादकीय

योग साधना एवं सिद्धियाँ

सिद्धियों के प्रसंग में चित्त के विषय में भी संक्षेप से समझ लेना आवश्यक हो जाता है।

मन, बुद्धि एवं अहंकार का सामूहिक नाम योग दर्शन में चित्त है। इसलिये जहाँ मन और बुद्धि शब्द से इनके कार्यों का व्यवहार होता है वहाँ इन्हें चित्त के ही प्रतिनिधि शब्द के रूप में ग्रहण करना चाहिये। ज्ञान प्राप्ति का मुख्य साधन चित्त ही है। वह ज्ञान चाहे भौतिक पदार्थों का हो अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्म तत्त्व का। दोनों प्रकार के ज्ञान का साधन चित्त है इसी ज्ञान के साधन के कारण ही इसे पौराणिक एवं शास्त्रीय वाङमय में अन्तःकरण कहा जाता है। भौतिक ज्ञान प्राप्त करने में ज्ञानेन्द्रियों की सहायता ली जाती है अतः बाह्य ज्ञान में वह भी साधन होते हैं। इन्हें बाह्य करण कहा जाता है और मन-बुद्धि आदि को अन्तःकरण कहते हैं। अध्यात्म ज्ञान में अन्तःकरण की ही उपादेयता है वाह्यकरण की नहीं। वाह्यकरण जाग्रत अवस्था के लिये है व्यवहार जगत के लिये है। योगदर्शन में जो सिद्धियाँ वर्णित हैं उन सब का मूलाधार संयम ही है। संयम की अवस्था तक पहुँचने के लिये योगी को धारणा ध्यान एवं समाधि की सीढ़ियाँ पार करनी होती हैं। युगपद धारणा, ध्यान समाधि एक ही लक्ष्य में होकर उस वस्तु में अथवा तत्त्व में तद्रूप हो जाने की क्षमता को संयम कहते हैं। योगदर्शन में विभूतिपाद में जितने भी सिद्धियों की परिगणना की है वह सब संयम के सिद्ध होने जाने पर ही प्राप्त होने योग्य है। जब तक संयम सिद्ध नहीं हो जाता तब तक इन सिद्धियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ करता। सिद्धियों के विषय में स्वामी विशुद्धानन्द कहा करते थे ज्ञान के उदय होने पर ऐश्वर्य का भाव अवश्यम्भावी है। ईश्वर भाव ही ऐश्वर्य। ईश् का अर्थ है शासन करना। सम्पूर्ण प्रकृति तक जीवों पर जो शासन करता है उसे ईश्वर कहते हैं। ऐश्वर्य आत्म भाव से पृथक् नहीं होता। ज्ञान के उदय होने पर ऐश्वर्य का प्रकाश अपने आप ही होगा। जैसे फूल के खिलने पर उसमें मकरन्द का विकास स्वतः होगा। सिद्धियों के विषय में भी यह बात भी स्मरणीय है कि कुछ सिद्धियाँ ऐसी हैं जिनकी प्राप्ति के कई उपाय हैं उदाहरण स्वरूप आकाश गमन की सिद्धि को ही लें। हठयोग में प्राणायाम के अभ्यास में उदान वायु पर जय कर लेने पर योगी का शरीर हल्का होकर ऊपर उठने लगता है। इसी अभ्यास को बढ़ाते-बढ़ाते योगी आकाश गमन कर सकता है। योग दर्शन में राजयोग प्रणाली में शरीर और आकाश का जो सम्बन्ध है उस पर संयम करने से योगी को आकाश गमन की सिद्धि होती है। रस शास्त्र में उल्लेख मिलता है तालु में पाराबन्धन करने से भी आकाश गमन होता है। इसके अतिरिक्त तिब्बतीय लामाओं की साधनाओं में कुछ और उपाय भी वर्णित हैं। सिद्ध गुरु किसी भी व्यक्ति को अपने संकल्प से आकाश गमन करा सकता है।

विशुद्धानन्द महाराज को विन्ध्याचल पर्वत से एक भैरवी माता ज्ञानगंज ले गई थी। वहीं सिद्धों की कृपा से विशुद्धानन्द जी को योग विज्ञान की अद्भुत साधनायें पूर्ण हुईं। आनन्दकन्द श्री प्रभु जी के जीवन चरित्र में अनेक घटनायें इस प्रकार की मिलती हैं एक बार श्री प्रभुजी

अपने कुछ शिष्यों के साथ ऋषिकेश से आगे ब्रह्मपुरी के जंगल देखने लगे। वहाँ श्री प्रभुजी वनखण्डी वेष में रहा करते थे। वहाँ घूमते-घूमते रात्रि हो गई। शिष्यगण अन्धकार में आते हुये हिंसक प्राणियों से भय मानने लगे। श्री प्रभु जी ने कहा-तुम सब अपनी आंखें बन्द कर लो। उन सब ने आंख बन्द कर ली। थोड़ी देर में प्रभुजी ने कहा-तुम अपनी आंखें खोल लो। सबने आंखे खोल लीं। सब ने देखाकि वे ऋषिकेश आश्रम के मुख्य द्वार के सामने खड़े हैं। स्वयं श्री प्रभु जी को नेपाल हिमालय में रहते हुये उनके गुरुदेव सदाशिव महाप्रभु जी इन्हें आकाश मार्ग से ही अपने समाधि गुफा तक ले गये थे। जो वीतरागी पुरुषों में लय जो जाया करते हैं अथवा जो भगवान के अनन्यतम भक्त हैं उनमें भी ऐसी सिद्धियाँ भगवान में लयता के कारण हो जाती हैं। प्राचीन काल में ऋषिलोग तो आकाश मार्ग से जाते ही थे तो अत्यन्त पुण्यशाली राजा थे ऐसे राजर्षि भी आकाश मार्ग से स्वर्गादि लोकों में आया जाया करते थे। महाराजा दशरथ, दुष्यन्त तथा अन्य राजा कई बार इन्द्र की सहायता के लिये स्वर्ग लोक जाया करते थे ऐसा पौराणिक व ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। अवतारों एवं भव प्रत्यय वाले योगियों में सिद्धियाँ जन्मजा होती हैं।पतञ्जलि जी ने सिद्धियों के लिये जिस संयम की बात कही है वह एक साधरण योगी के लिये है अर्थात् एक योगी को ऐसी सिद्धियों के लिये समाधि लगाकर संयम करना पड़ेगा तब उसे कार्य में सफलता मिलेगी। किन्तु जो परिपूर्ण सिद्ध हैं पूर्णयोगी हैं, सिद्ध गुरु एवं महायोगी हैं उन्हें संयम की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनका तो संकल्प करना ही काफी है। संकल्प मात्र से उन्हें सकल ज्ञान एवं सिद्धियां स्वतः प्रकट होती हैं।

सम्बन्ध

संसार में तीन प्रकार के सम्बन्ध हैं-एक शरीर का अर्थात् परिवारी जनों का-दूसरा मन का सम्बन्ध अर्थात् मित्र, स्वामी, सेवक, धन सम्पति एवं ऐश्वर्य का, तीसरा आत्मा का सम्बन्ध। यह दोनों से परे है अटूट है, नित्य है, शाश्वत है। यह सम्बन्ध आत्मा का आत्मा से है। इस श्रेणी में गुरु, शिष्य अथवा सत्संगी आते हैं।

किमस्ति योग

रचनाकार :- द्वारका प्रसाद शर्मा, 306-ए (अभिषेक), 'प्रिया-निकुञ्ज, एल्डिको-उद्यान दो, उतरेटिया, रायबरेली रोड, लखनऊ। फोन नं॰ 0522/440324

अतः परं सपृति पत्तिरस्ति, ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य च ज्ञातुरस्य।
जानाति योगी करणीय मत्र किं, का का तथा मे परिलब्धिरस्ति।।1।।

इसके पश्चात युञ्जान योगी जो सम्प्रज्ञात समाधि की ओर प्रवृत्त रहते हैं उन्हें इस अवस्था तक अपना (अर्थात् ज्ञातृत्व भाव), ज्ञेय (लक्ष्य) तथा ज्ञान (वह तत्व जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है) - इन तीनों का बोध रहा करता है। इस अवस्था विशेष में योगी यह जानता रहता है कि उसे क्या करना है और उसकी अब तक की उपलब्धियां, परिलब्धियां अर्थात् प्राप्तियां क्या क्या हैं।

सम्प्रज्ञाते समाधौ हि, श्रद्धावीर्यान्विता स्मृतिः।
संजायते युता प्रज्ञा, अन्येषां योगिनां तु वै।।2।।

सम्प्रज्ञात समाधि के विषय में यद्यपि सभी पाठकों को बताने की आवश्यकता नहीं है तथापि स्पष्ट कर देना और समीचीन होगा कि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से दो प्रकार की समाधियां हुआ करती हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था तक तो युञ्जान योगी को आभास रहा करता है, अपने प्रति, ज्ञेय लक्ष्य के प्रति तथा अनुष्ठीयमान या सम्पाद्यमान कृत्य के प्रति। जबकि इसके विपरीत, असंप्रज्ञात समाधि में, पूर्ण अवस्था की स्थिति में, जिसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं, समस्त संस्कारों अथवा वासनाओं का लोप हो जाता है और मात्र ज्ञेय का ही भाव विद्यमान रहा करता है। अब इस श्लोक का अर्थ समझने में सुविधा रहेगी। इसका अर्थ यह है कि इस सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में युञ्जान योगी, यदि व पूर्ण श्रद्धा भाव से, सम्पूर्ण मनोबल से तथा स्मृति को कायम रखते हुए, प्रज्ञा नामक बुद्धि व विवेक का अधिकारी हो जाता है और इस अवस्था में योगी साधारण स्तर से ऊँचा उठकर विशिष्ट बुद्धि से युक्त व विवेकवान व्यक्ति की कोटि में आ जाया करता है।

योगमार्ग प्रवृत्तानां, जनानाञ्चापि श्रेणयः।
के चित्तीव्रेण वेगेन, आसन्नाः स्वीयलक्ष्यके।।3।।

योग मार्ग में प्रवृत्त योगी व्यक्ति की भी श्रेणियां हुआ करती हैं। संस्कारवशात् कुछ योग परायण व्यक्ति तीव्र वेग से इस कृत्य व लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाया करते हैं और वे शीघ्र ही अभीष्ट फल के अधिकारी व पात्र हो जाया करते हैं।

योगेप्सूना जनानाञ्च, गतयों विविधाः खलु।
मृदुमध्यातिमात्रत्वत्, कोट्यस्तेषां स्थिरायिताः।।4।।

इसी प्रकार से अन्य योग साधकों की श्रेणियां, मृदु, मध्य तथा अतिमात्र प्रयास से विभिन्न कोटियों में विभाजित होकर एक युञ्जान योगी की, उनके द्वारा किये गये यत्नों व अभ्यास के परिणामस्वरूप उस मात्रा में फल प्रदान करने वाली हुआ करती हैं।

प्राग्जन्मोपार्जिता ये वै, संस्काराः कर्मसूचकाः।
निश्चयत्वेन तेषान्तु, प्रभावः परिलक्ष्यते।।5।।

(5) पूर्वजन्म के संस्कार भी इसमें सहायक हुआ करते हैं। कर्मानुसार संस्कार भी अपना प्रभाव निश्चित रूप से दिया करते हैं। पूर्व जन्म में आचरित योग परायण साधक की इस जन्म में तदनुसार योगारूढ होते हुए प्रवृत्ति हुआ करती है।

समाप्नोति नरस्ताहक, देहं, रूपं स्वभावकम्।
बलं, बुद्धिं तथा ज्ञानं, स्वीयंकर्मानुसारतः।।6।।

मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही इस जन्म में तदनुरूप देह, रूप, स्वभाव, बल, बुद्धि तथा ज्ञान आदि की प्राप्ति किया करता है।

दुःखं सुखं कुलं वापि, तादृशं चैव चेष्टितम्।
स्वीय संस्कार मात्रत्वात्, नितरां लभते जनः।।7।।

इसके अतिरिक्त, सुख-दुख उत्तम कुल में संस्थिति, ये सब भी अपने अपने संस्कारों के अधीन एक साधक प्राप्त किया करता है।

महत्पुण्येन पुरुषः, सिद्धयोग- प्रदीक्षितः।
सिद्धानां सद्गुरूणाञ्च, महती लभते कृपा।।8।।

महान् पुण्य के उदय होने पर ही सिद्धयोग में प्रदीक्षित साधक, सिद्ध पुरुषों तथा सद्गुरु की महती कृपा प्राप्त किया करते हैं।

अशक्या वर्णितुं तेषां, कृपा या सहजोत्थिता।
कर्तुं किं न समर्था सा, सिद्धिदा परमार्थदा।।9।।

इस प्रकार के सिद्ध पुरुषों की कृपा उन साधकों को सहज रूप में प्राप्त रहती है। उसका वर्णन करना सरल नहीं है। और फिर यदि वह कृपा या अनुग्रह सुलभ हो जाय तो क्या कुछ नहीं होता। वह तो सिद्धि प्रदायिनी और परामार्थदायिनी दोनों ही है।

तत्रापि यादृशी येगा, श्रद्धावीर्यान्विता स्मृतिः।
पुरुषं तादृशं कुरुते, स यच्छ्रद्धः स एव सः।।10।।

ऐसी सम्प्रज्ञात समाधि में श्रद्धा, वीर्य सहित जो स्मृति हुआ करती है वह उस साधक को वैसा ही बना दिया करती है। उस साधक की जिस प्रकार की श्रद्धा हुआ करती है, वह व्यक्ति वैसा ही हो जाया करता है।

भगवतो वक्त्र पद्मान्निःसृतं तद्वचस्तथा।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।11।।

भागवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से भी इस प्रकार के वचन उच्चरित हुए हैं। श्री मद्भगवद्गीता में भगवान स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं कि यह पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जिस प्रकार की श्रद्धा होगी वह तदनुरूप हो जाया करता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वस्तुतः श्रद्धा और विश्वास ही फलित हुआ करते हैं। जिसकी जिस मात्रा में न्यूना या अधिका श्रद्धा हुआ करती है वह उसी के अनुरूप तद्वत् फल पाने का अधिकारी हुआ करता है।

योगेश्वराः श्री गुरवोऽपि प्रायः, स्वीय प्रवचनेषु समूदिवन्तः।
श्रद्धा हि नूनं परिपाति योगिनं माता यथा पालयति निजार्भकम्।।12।।

ध्यानेनियमात्मंत्रजापेतथैव, समयेनियतेनित्यर्भमेत्रोपविश्यात्।
पूर्णा श्रद्धा श्री गुरुणां पदेपु, सिद्धि नो स्यान्नैव तद्भावनीयः।।13।।

इसके अतिरिक्त श्री सद्गुरुदेव महाराज प्रायः यह कहा करते थे कि ध्यान और मन्त्रजाप नित्य, नियमपूर्वक एक नियत समय पर बैठकर किया जाना चाहिये। अपने गुरुदेव के प्रति पूर्ण श्रद्धा भाव सदैव विद्यमान रहना चाहिये। इससे सिद्धियां या प्राप्तियां न हों ऐसा कतई नहीं सोचना चाहिये।

पतञ्जलिः श्रीःस्वयमीश्वरस्य, सत्तां समुच्चामुररी करोति।
अतस्तु सोऽपि व्यतिरिच्य सर्वं समर्पणं मन्यत ईश्वरं प्रति।। 14।।

महर्षि पतञ्जलि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुये कहते हैं 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से भी सम्प्रज्ञात समाधि में प्रगति निश्चित रूप से हुआ करती है।

सूत्रं सुग्रथितं 'प्रणिधान' शब्दात, स्वस्यापनं यत्र भवेदीक्षेभावे।
नूनंसमादधतितद्सकलंतुयोगिने,श्रद्धातिशयतानितरामपेक्षते।। 15।।

भगवान पतञ्जलि द्वारा 'प्रणिधान' शब्द का प्रयोग इस अभिप्राय का सूचक है कि ईश्वर सत्ता में अपने आपको समर्पित करना और वह समग्र रूप से समर्पण ही एक साधक योगी को सकल-सर्वस्व प्रदान कर दिया करता है। उसमें भी श्रद्धातिशयता की सुतरां अपेक्षा हुआ करती है।

अतः परं 'ईश्वर'वाचकं पदं, कं ईश्वरः स्पष्टयति स्वसूत्रे।
स ईश्वरोयोनहि क्लेशक्लिष्टः, क्लेशैः परामृष्ट विहीन ईश्वरः।। 16।।

इसके पश्चात् भगवान पतञ्जलि महाराज 'ईश्वर' शब्द की व्याख्या में सुस्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'ईश्वरवाची' शब्द से क्या तात्पर्य है। जैसा कि सूत्र इंगित कर रहा है 'क्लेश कर्म विपाकाशयैर रामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः'। अर्थात ईश्वर वही हुआ करता है जो क्लेश आदि से विमुक्त हो उनसे कतई क्लिष्ट न हो। ईश्वर के लिये कोई कार्य-कर्म नहीं हुआ करता। जब कर्मों से वह व्यापृत ही नहीं होता है तो कर्म-विपाक का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

न सन्ति कर्माणि च ईश्वरस्य, प्रश्नस्तुक्ल कर्मविपाक नाम।
न विद्यते यस्तु पराभिमृष्टः स ईश्वरः केवलमेव सेश्वरः।। 17।।

ईश्वर के लिये कोई कार्य या कृत्य चूंकि नहीं रहता है अतः कर्म-विपाक का

प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता है। जो किसी अन्य से सम्पृक्त न हो, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो, जो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो,वही ईश्वर है। केवल वही ईश्वर हुआ करता है।

क्लेशैः कर्मविपाक इति च तैस्तैराशयैश्चापि यः,
आत्मैव पद वाच्य ईश्वर अहो वाच्यो विशिष्टस्तु सः।।
स एव पुरुषो विशेष इति च सः नो साधारणो जनः,
क्लेशकर्म विपाक आशय इति पुरुषो विशेषेश्वरः।।18।।

क्लेशों के द्वारा, कर्म विपाक और कर्माशियों से ईश्वर-पद 'आत्मा' का ही वाक्य सिद्ध होता है। जिस प्रकार आत्मबल ने विकार शून्यता रहा करती है उस ईश्वर में भी वही सत्ता है। जो एक निर्मल आत्मा की सत्ता हुआ करती है और वही तत्तद्गुण युक्त आत्मा ही ईश्वर है और ईश्वर ही आत्मा है। हमारे सद् गुरुदेव इस विषय पर प्रायः उद्बोधित करते हुए कहा करते थे कि ईश्वर, सद्गुरुदेव और आत्मतत्व में पूर्णतया अभिन्नता है।

उपर्युक्तगुणैर्युक्तः, सर्वज्ञश्चापि सेश्वरः।
सर्वज्ञो निरतिशयः, ईश्वरस्यैव लक्षणम्।।19।।

उपर्युक्त गुणों से युक्त वह ईश्वर सर्वज्ञ भी है। उसकी सर्वज्ञता निरतिशय है अर्थात् उससे अधिक सर्वज्ञता किसी में नहीं हुआ करती है। यह ईश्वर का लक्षण निर्धारित हुआ।

अतः परं पुनश्चैव, श्री गुरुणां कृपालवात्
आगामिसिद्ध योगाङ्के, प्रवक्ष्ये शेषमस्ति यत्।।20।।

अब इसके पश्चात् पुनः सद्गुरुदेव प्रभुजी ही के कृपा प्रसाद रूप सूत्रों को भी शनैः शनैः इसी प्रकार लेता हुआ- श्लोकबद्ध व्याख्या का प्रयास करूंगा।

— ✿ —

तत्व विसर्जन

पं॰ महेश बोहरे, ज्योतिर्विद्
अभिभावक एवं लेखक, कवि, गीतकार,

सृजित को सृजेता मे श्रेष्ठतर बनाया, पर
वैभवी लुभव देकर आत्मने भुलाया है।।
कामना की नींव के संग ताल पर नचाता अरु,
तिरताला दे-देकर अंत में थकाता है।।
नर्तकी की थिरकन को साज सब रखे हैं, पर,
पटाक्षेप हुआ सृजन स्वतः बिखर जाता है।।

आत्म संयम

व्यर्थ वैभव के वैभव-आधार सभी,
शान-शौकत के व्यर्थ आधार सभी।।
भौतिक सुख में बसी यह तेरी वासना,
भोलापन्न है तेरा, यह विकार सभी।।
मन है चंचल, करेगा विविध कामना,
किन्तु संयम तू अपना जगाते तभी,।।
आत्म ज्ञानी बनेगी तेरी साधना,
सत्य से होगा तेरा साकार तभी।।

अवश्यमेव भोक्तव्यम् जन्म कर्मशुभाशुभ

"जन्म के शुभ कर्म एवं अशुभ (अज्ञान-कृत) दोनों कर्म के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं"

पं॰ राजेन्द्र प्रसाद पाठक

महाराज शिवि बड़े ही उदार प्रकृति वाले थे। उनके स्वभाव में दया के साथ-साथ करुणा की नीति नियत (विचार) सा भाव भरा रहता था। प्रायः जब व्यक्ति-विशेष के अन्तर्गत दयाद्रता के भाव में करुणापन आ जाता है, तभी श्री प्रभु उसकी परीक्षा लेने के लिये एक नया सा रूप(सी. आई. डी.) बनकर उसके सामने उद्भुत (प्रत्यक्ष) होते हैं। यह ही हेतु महाराज शिवि, बलि, रन्तिदेव, आदि के साथ वैसे भी हुआ जैसे विद्यार्थी आदि की परीक्षा एवं परीक्षाफल चिन्तनादि में होता है। जीवन में हर क्षण एवं हर कण के संयोगादि-वियोगादि में जो नयापन होता है वह ही सीख का कारण बनता है। "मेरे शरीर से रक्त बह रहे हैं, इस शरीर के अन्तर्गत मज्जा एवं मांस अभी भरा पड़ा है, फिर भी हे गरुड़ पक्षी आपको सन्तृप्त सा न देखकर इसे भक्षण करने से विरक्त सा देख रहा हूं, ये थे वचन महाराज दानी शिरोमणी शिवि के।"

"शिरा मुखैः स्यन्दत एव रक्तः,
मय्यापि देहे मम् मांसमस्ति।
तृप्ति न लावत् द्रष्टुम् गरुत्मन्
किं भक्षणात् त्वम् विरेतो गरुत्मन्।।"

पूर्व काल के दानियों में कितना विलक्षण त्याग था। मांगने वालों की भी विलक्षणता में अजीब सा अनोखापन सा था। "प्राण जाहि पर वचन न जाहि।" नृपति वर महाराज दशरथ, कहने और पालन करने से न घबड़ाये। "परिवार के कई रोज भोजन से वंचित महाराज रन्तिदेव; अपने जलग्रहण तक को पुष्कस स्वरूप भगवान सदाशिव को अर्पित करते हुये "शायद आप की तृप्ति हो ही जाय 'कृपया ग्रहण करें।" कह सकने में अपनी असमर्थता जाहिर नहीं की।

"वृथा न जाई देव ऋषि वाणी" के संकोच से मुनिदर आदि के कार्य हुआ करते थे। मांगने और देने की कला जैसी बात में आप जरा सोचें कि परीक्षक परीक्षार्थी का कितना कठोर परीक्षण करता है। महाप्रभु जी ने अपने स्वयं लेख में वर्णन करते हुये व्यक्त किया कि आसाम की पैदल यात्रा अति कठिन किन्तु मार्मिक थी। एक बार अपने ब्रह्मचारियों के साथ नदी पार करने में मल्लाह द्वारा चार आने पैसे की बात आती है। नाविक इस हठ पर था कि उस पार जंगल से एक नर भक्षिणी निकलती है जो नाविक समेत नाव पर के सभी लोगों को भक्षण कर डालती है। कृपया उस पार नदी में डूबते

उतराते व्यक्ति झुन्डों के नर मुन्डों को देखें। महाप्रभु जी ने सन्तोष बधाते हुये, नाविक को पैसे देने की बात और उस पार पहुँच कर तुम्हें मुँह मांगी वस्तु भी दी जायेगी। नदी के मध्य में ही, नाविक ने महाप्रभु समेत ब्रह्मचारियों को नाव से डुबो देने की बात तब करी जब वह (श्री महाप्रभु जी) चार आने की जगह एक-एक रुपये देने में विरोध प्रगट किया। वास्तविकता तो यह थी कि, न ही नदी में या जंगल में कोई नरभक्षिणी थी और न ही किसी प्रकार की भयावह परिस्थिति, बल्कि नाविक ही सभी लोगों के सामान लूट कर सबको नदी में डुबो देता था। महाप्रभु जी ने अपने चिमटे से नाविक का ही कामतेनाम नदी के मध्य कर दिया और प्राग्ज्योतिषपुर जिसका नाम गोहाटी है जहाँ अविचल शक्ति सम्पन्ना कामाख्या कामरूप देवी विराजमान है ऐसे स्थल पर ब्रह्मचारियों समेत पहुँचे। श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णन आता है कि प्राग्ज्योतिषपुर के राजा महाराजा भौमासुर थे, जिन्होंने सोलह हजार कन्याओं का अपहरण छोटे-छोटे राज्यों से किया था, जिसे भगवान श्रीकृष्ण के सुभद्राहरण की बात से व्यथित होकर भगवान बलराम, जिनका नाम हलधर भी था इस आसाम क्षेत्र में आकर हलेश्वर भगवान शिव की स्थापना तेजपुर में की। यह स्थल आज भी पूजनीय एवं मनोकामना पूर्ति का स्थल है जो गोहाटी (पलटनबाजार) से मात्र 35 रू० किराये की दूरी पर अवस्थित है। श्री प्रभुजी के आदेश अनुसार महाप्रभु के सद्चरित्रों का अवर्णनीय वर्णन वर्ष 29/ अंक 4/ 1966 (1966/29/4) सिद्धयोग के द्वारा हमारे गुरुभाइयों के द्वारा ही सभी भाई बन्धुओं तक पियूस धार से परिचर्चित है कि योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण अपने 16 कलाओं से संयुक्तमय होकर रुक्म देश के भीष्मक (सदिया के पास कौटिल्य नगर) महाराज की सुकन्या रुक्मिणी के साथ हरण कर गन्धर्व विवाह करते हुये, अपनी काल्पनिक हर कलाओं से परिपूर्ण प्रियसी राधिका के समक्ष महान आदर्श प्रस्तुत किया एवं परिकल्पनातीत यौगिक क्रियाओं के ग्रन्थि का भेदन कर अर्जुन जैसे धनुर्धर को सद्पथ पर अग्रगण्य रक्खा। भगवान इन्द्र के परीक्षण में महर्षि दधीचि अपने शरीर को त्याग कर वज्र बनाने के लिये ब्राह्मण वेशी देवराज को समर्पित करते हुये अपनी अस्थि से न घबड़ाये। यह ही है त्याग वृत्ति। यदि चूहा यह कहे कि हम बिल्ली के लिये अपने शरीर का त्याग कर रहे हैं तो यह त्याग नहीं कहा जा सकता। त्याग तो सामर्थशलियों का आभूषण होता है। कार आदि के रहते पैदल चलना ही त्याग है यदि उस कार का सदुपयोग दूसरे के हित में हो। ऐसा ही करने से ही शुभ कर्म के शुभ फल होते हैं। गन्धर्व विवाह में जिन सुमन का प्रयोग है वह पाँच फूलों (परिकल्पित सुकन्या) से संयुक्त होता है। ए सुमन हैं-"तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात और चम्पक।"

"तुलसी कुन्दमन्दोरैः पारिजात स्चम्पकैः।
पञ्चभिर्ग्रथिता माला वनमाला कथ्यते।।
तानि पुष्पाणि गन्धर्वे वैवाहिकम् समाचरेत्।
एतानि सुमनाश्चैव जयमालाम् तू समर्पयेत्।।

ए सारे उपर्युक्त पाँच फूल आसाम जैसे दुरुह जंगलों से हर क्षण नासिका रन्ध्र तक अक्टूबर मास में पहुँचते हैं और इन स्थलों पर इन्हीं फूलों के समावेश से अब भी गन्धर्व विवाह हुआ करता है। इन ऐतिहासिक घटना के मूल में धर्म की आस्था जुड़ी हुई है क्योंकि तुलसी शालिग्राम भगवान विष्णु का प्रसाद, कुन्द विद्या प्रदायिनी सरस्वती का आभुषण मन्दार फूल भगवान अनादेश्वर शिव का सेवक तथा पारिजात पुष्प योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण का आधार है। इन्ही पुष्पों को चम्पक (संयुक्त) कर **"क्षिति, जल, पावक गगन, समीरा"** का आधार लेते हुये व्यक्ति-विशेष के कार्य सम्पन्न हुआ करते हैं। विकसित सुमन एवं पल्लवित पुष्पकली कन्या का द्योतक है जिसका लाक्षणिक अर्थ 'अमरकोष' में मिलता है। कुब्जिका तन्त्र एवं सांई चरित्र तथा कालिका पुराण में ऐसा वर्णन मिलता है कि कन्याओं की शुद्धि के लिये उनसे प्रायः पुष्प या फूल की माला भगवान को अर्पित किये जाते हैं किन्तु आसाम क्षेत्र में इसका दूसरा ही रूप है जिसका वर्णन देवी भागवत में सूक्ष्म एवं गुप्त रूप में परिकल्पित एवं वर्णित है। देवी चरित्र में ऐसा वर्णन आता है कि उनके मन्त्रों को सभी देवताओं ने कील दिया था, अतः देवी पाठ में उत्कीलन का महत्व है। यह भी एक तन्त्र है जिसका ग्रन्थि भेदन महाप्रभु ने किया कि **"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"** एवं महर्षि पातञ्जलि ने वर्णन किया है कि **"निरोधोमुक्ति आश्रयः।"** स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी, जगतजननी मां दुर्गा के अनन्य भक्त थे जिन्होंने अपनी पत्नी शारदा को माता कहकर पुकारते रहे और विवाह के पश्चात् उनके ही स्वरूप की एक वेदी बना, उस पर उन्हें बिठा मातृवत पूजा की। श्री परमहंस जी के आत्मवत शिष्य थे नरेन्द्र जिनका आनन्द आश्रम में शिष्यवत आगमन के पश्चात् नामकरण हुआ-स्वामी विवेकानन्द। स्वामी जी गेरुआ रंग के वस्त्र आजीवन पहनते हुये फूलों की माला कभी पहने ही नहीं। यौगिक परम्परा में वस्त्र भी एक प्रतीक है। गेरुए रंग का भाव अग्निवत तेज पुन्ज से है, कि उनके समक्ष सांसारिकता पहुँचते ही वाष्प बन जायेगी तथा स्वामी जी ने पुष्प को श्री गुरुदेव की पत्नी स्वरूपा मां को मातृवत सत्कार देते रहे। परमहंस शब्द (श्वेत वस्त्र) सत्य का प्रतीक है। यह भी योगियों के वस्त्रालंकार हैं। स्वामी तुलसीदास जी **"सत्य कहहुं लिपि कागज कोरे।"** कहते हुये सत्यता की तरफ संकेत किया है। गृहस्थाश्रम में पहुंचकर व्यक्ति स्वयं को हर बात एवं कर्म की तरफ संकेत करते हुये मात्र श्वेत वस्त्र से अलंकृत रखना चाहता है, इस आश्रम का भी एक रहस्यमय तत्व है जिसे आप विचार करें। प्रायः ऐसा होता है कि जब गृहस्थाश्रम में सुकन्यायें पिता के घर यदि रजस्वला हो जाती है तो पिता मातृवत दोष का भागी होता है अतः विद्वान वर्ग उन्हें योगियों को समर्पण कर फूल की माला पहना कीलन या उत्किलन किया करते हैं। इसी ही प्रायश्चित्त की निवृत्ति हेतु पूर्व समय में बालिकाओं की शादी (विवाह) रजस्वला से पूर्व ही कर दिया जाता था। उदाहरणतः शक्ति सन्ध दृढव्रती भगवान श्रीराम एवं मां जगतजननी श्री सीता के युगल बन्धन का समय। गुरु शिष्य के अगाध प्रेम का वर्णन करते हुये स्वामी रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द की भावनाओं पर भी विचार करें। वास्तविकता यह है कि गुरु सर्वशक्तिमान सम्पन्न होता है और शिष्य को शक्तिमान बनाता है। आचार्य गिरीश गोस्वामी के कैन्सर रोग को श्री गुरुदेव ने

धारण कर उन्हें जीवन मुक्त कर भोग मुक्त के लिये छोड़ दिया और स्वयं उस रोग से पीड़ित हो बैठे। कितने ही शिष्यों में उन्हें मां दुर्गा से उलाहना देने को कहा, परन्तु न जाने उलाहना देने की जगह अनवरत अपने परम शिष्य विवेकानन्द की तरफ ही ताकते रहे। कलकत्ता के नर्सिंग होम में डाक्टर आपरेशन कर स्वामी जी ने कैन्सर रोग से मवाज निकालकर सभी शिष्यों (आनन्दाश्रम) के सामने बाल्टी में रखते हुये नर्स की तरफ संकेत किया कि इसे दूर दराज जंगल में ले जाकर जमीन के भीतर गड्ढे में ढक देते ताकि इस जहरीले पदार्थ पर किसी की भी नजर न पड़े अन्यथा इस पर दृष्टि पड़ने से रोग होने की सम्भावना है। डाक्टर एवं नर्स क्षण मात्र की विचलन में हाथ धोने की मुद्रा में थे कि अचानक स्वामी विवेकानन्द उसे पी गये। स्वामी जी ने अपने चरित्र में लिखा है कि उसे पीते समय उन्हें ऐसा लगा कि वे अगाध सत्य श्वेत यश के समुद्र में गोते लगा रहे हैं और हुआ भी ऐसा कि 23 वर्ष की अवस्था में ही विश्व-प्रसिद्ध हो बैठे। परन्तु संसार छोड़ते समय इसी अवस्था में अभूत पूर्व गुरु के दिये प्रसाद को वर्णन कर बैठे- स्वामी रामकृष्ण परमहंस महाप्रभु जी के परम शिष्य थे जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द को प्रयाण के समय सभी आनन्दाश्रमी के सामने एकान्त में बुलाकर अपने दाहिने पाँव के अँगूठे से ललाट के मध्य त्रिकुटि में विराजमान करते हुये सदाशिव की स्थापना की जिसके प्रखर तेजपुन्ज को विवेकानन्द सह सकने में असमर्थ हो बैठे। उन्होंने अपने चरित्र में लिखा है कि जिस समय स्वामी जी ने अपने अँगूठे को स्पर्श किया, उन्हें ऐसा लगा कि उनके पूरे शरीर में बिजली सी कौंध गयी हो और वह तेजपुन्ज पाँव तले से पृथ्वी में समाहित हो रहा हो।" यह है सर्वशक्ति सम्पन्न के शक्तिमान बनाने का श्रेय, जिसके प्रेय फल के फल में शुभ एवं अशुभ कर्मों के फलाशक्ति तथा इन कर्मों के भोग भुक्त निहित है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने महाप्रभु अनन्त ईश्वरेश्वर सदाशिव भगवान योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज का अभूतपूर्ण वर्णन किया है, उन्होंने अपने सद्चरित्र वर्णन में लिखा है कि वे योगेश्वर भगवान के साक्षात दर्शन कर शक्तियाँ प्राप्त करते थे। बाल्यावस्था का वर्णन करते हुये अपने जीवन चारित्रों में स्वामी जी अभिव्यक्त करते हैं कि उनके पिता जी पन्डित्य वृत्ति करते थे। एक बार एक गाँव से कोई यजमान तिथि पूछने आया। जैसा कि पिता जी उन्हें बताकर इसी वृत्ति में कहीं चले गये थे। अतः घर पर स्वामी जी ही थे और उन्होंने तिथि बताने में अमावस्या की जगह पूर्णिमा बता दिया। पिता के घर लौटने पर उन्होंने सारी बातों का वर्णन यथावत् कर दिया। अतः पिता अपनी वृत्ति पर कहीं दोष न आ जाय अति विक्षुब्ध होने लगे। स्वामी जी ने कहा पिता जी आप घबड़ाइये नहीं आज पूर्णिमा ही होगा, हमें ऐसा आभास हुआ है। उन्होंने श्री प्रभु के स्वरूप दर्शन का भी वर्णन किया, किन्तु पिता सुमधुर सायंकालीन एका रजनी (पूर्णिमा की रात्रि चन्द्र) की अत्युत्कन्ठा से इन्तजार करने लगे। सायंकाल होने पर उन्हें वास्तव में पूर्णिमा का चाँद ही दृष्टिगत हुआ। अब भी वर्तमान समय में बंगाली लोग स्वामी रामठाकुर जी की ही पूजा कर, अपने सर्वस्व उन्हें न्योछावर का धारण करते हैं। ऐसे हैं इस पृथ्वी पर अब भी वर्तमान एवं पूजनीय महाप्रभु।

इस प्रकार शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल-त्याग का होना अति असम्भव है। जो चाहते हैं वह न हो और जो नहीं चाहते वह हो जाय-इसी को दुःख कहते हैं, अतः यदि चाहते और नहीं चाहते को छोड़ दें तो फिर दुःख है ही कहाँ। कहा गया है कि **"काम अछत सुख सपनेहुँ नाही"** (मानस 6/90/9) कहकर स्वामी जी ने संकेत किया। विचारवान मनुष्य स्वयं पाप करना नही चाहता, परन्तु कोई दूसरा ही उसे जबर दस्ती पापकर्म में प्रवृत्त करा कर कर्म फल का भागी बना देता है- ये हे प्रश्न विचारवान धनुर्धर अर्जुन के। इन कर्मों में प्रवृत्तता का कारण है- अश्रद्धा, असूया, दुष्टचित्तता, मूढ़ता, प्रकृतिवश, परवशता, राग, द्वेष, स्वधर्म में अरुचि और परधर्म में रुचि के साथ-साथ ईश्वर का विधान, प्रारब्ध, युग, परिस्थिति, कर्म, कुसङ्ग, समाज, रीति-रिवाज, सरकारी कानून आदि। जिसका संकेत दुर्योधन ने भी अपने शब्दों में किया कि- "मैं धर्म को जानता हूँ पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म को भी जानता हूँ पर उसमें मेरी निवृत्ति नहीं होती। मेरे हृदय में स्थित कोई देव है जो मेरे से जैसा करवाता है, वैसा ही मैं करता हूँ।" जिसका पूर्ण वर्णन गर्ग संहिता, अश्वमेध॰ 50/36 में मिलता है।

श्रीमद्भगवतगीता के सोलहवें अध्याय के श्लोक सातवें में विवेचन करते हुये भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात मनुष्य किस कर्म में कैसे लीन हो तथा किस-किस कर्म से किस प्रकार की निवृत्त हो और इनका ज्ञान कैसे हो तथा इनके जानने का श्रेय गुरु के द्वारा, ग्रन्थ के द्वारा, विचार के द्वारा एवं विवेक शक्ति के द्वारा ही कैसे पूर्ण सम्भव है। क्योंकि पशु पक्षी आदि योनियों में इन्हें विकसित करने का अवसर स्थान और योग्यता प्राप्त नहीं है परन्तु मनुष्य त्याग वृत्ति से सद्गुण सदाचार तभी ला सकता है जब उसे समाज का उचित वातावरण प्राप्त हो क्योंकि मनुष्य इसमें सर्वदा स्वतन्त्र है तथा वह साधन योनि है परन्तु पशु पक्षी इसमें स्वतन्त्र नहीं हैं क्योंकि वह भोग योनि है। अतः व्यक्त किया कि- "आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते और उनमें न बाह्य शुद्धि, न श्रेष्ठ आचरण तथा न सत्य पालन ही होता है।"

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।

(श्री गीता 20/7)

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ।।
निर्मल मन जन सोमोहिं पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(मानस 5/44/24)

इस प्रकार ऐसा निष्कर्ष मिलता है कि अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम 'योग' और प्राप्त वस्तु की रक्षा कर लेना या रक्षा कर पाना ही 'क्षेम' है। तभी तो श्री भगवान ने **"योग क्षेम वहाम्यहम्'** तथा '**नियोग क्षेम आत्मवान**' (2/45गीता) कहते हुये संकेत किया है। यह बात आप मन में

सुनिश्चित कर लिजिये कि सांसारिक पदार्थ परमात्मा की तरफ चलने में बिल्कुल ही बाधा नहीं देते किन्तु प्रत्यक्ष रूप धारण किये वर्तमान मे जो भोगों का महत्व एवं उत्कृष्टता की सुन्दरता का महत्व जो अन्तःकरण में बैठा हुआ है वह ही बाधा देता है। भोग उतना नहीं अटकाते जितना कि भोगों का महत्व अटकाते हैं। जिसमें स्वयं की रुचि, नीयत की प्रधानता एवं उन भोगों का संग्रह ऐसा संस्कार बना देता कि जीव-अवश्यमेव भोक्तव्यम् जन्म कर्म शुभाशुभम् की सीढ़ी को पार कर सकने में असमर्थ होने लगता है।

श्री गुरुचरणकमलमर्पणमस्तु-

लेखकों से.....

सिद्धयोग के सुविज्ञ लेखकों से अनुरोध है कि वे प्रकाशनार्थ हमें भेजी जानी वाली अपनी समस्त रचनाएँ, लेख, कविताऐं आदि कागज के केवल एक ही ओर लिखकर भेजें। रचनाएँ स्पष्ट सुलेख में होनी चाहिए। इससे हमें सम्पादन और प्रकाशन के कार्य में अतीव सुविधा मिलेगी। धन्यवाद।

—सम्पादक

विनादीक्षा के मनुष्य अधूरा है!

नारायणदत्त शर्मा सालवन (करनाल)

मनुष्य जाति के लिये दीक्षित होना अत्यावश्यक है क्योंकि गुरु दीक्षा के बिना उद्धार नहीं होता है। लोकोक्ति है गुरु बिना गत नहीं शाह बिनायत नहीं गुरु दीक्षा का सम्पूर्ण अर्थ है 'गुरु' इस शब्द में गुशब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति, रु शब्द स्तन्भिरोधकः अन्धकार निरोधित्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते।।

गु शब्द अन्धकार रूप है रु का अर्थ प्रकाश है, शिष्य के अन्दर के अज्ञान अन्धकार को दूर करके ज्ञान रुपी प्रकाश भर देना गुरु शब्द का अर्थ है।

दीक्षा का अर्थ है **'दीयते ज्ञानं क्षीयते पापम्'** गुरु शिष्य को ज्ञान रूपि प्रकाश देकर अन्धकार रूपी पापों का क्षय अर्थात नाश करता है। इसी का नाम गुरुदीक्षा है शिष्य को चाहिये दीक्षा लेने के पश्चात् गुरु द्वारा बताए गए नियमानुसार अभ्यास में जुट जाए तभी उसका कल्याण होगा। गुरु का आशीर्वाद जनक प्रकाश उसके हर समय साथ रहेगा उनकी कृपा का हाथ हर समय शिष्य के सिर पर मण्डराता रहता है यह मेरे अनुभव की बात है इसमें तनिक भी असत्य नही हैं सांसारिक मानव को 'सद्गुरु' की आवश्यकता तब अधिक महसुस होती है जब वह पूर्ण रूप से संसार में रम गया हो।

सांख्य योग बताता है कि जब प्राणी माता के गर्भ में होता है परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता है कि मुझे इस गर्भ से बाहर कर दे मैं बाहर आकर तुम्हारे नाम का स्मरण करूंगा परन्तु जैसे ही बाहर आता है वह संसार में पूरी तरह रम जाता है बाल्यावस्था में क्रीड़ा में आसक्त हो जाता है तरुण होकर तरुणी में आसक्त हो जाता है वृद्ध होने पर नाना प्रकार की चिन्ता में मग्न हो जाता है परमपिता की चिन्ता में तो कोई बिरला ही लगता है कहा भी है–

"बालस्तावत्क्रीड़ासक्त
स्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः
पारेब्रह्मणिकोऽपि न लग्नः।

इस प्रकार प्राणी गर्भ से बाहर आकर परमपिता को भुल जाता है संसार में वह पूरी तरह व्यस्त हो जाता है और उस परमपिता को भुल जाता है उसी को याद कराने की अहम भुमिका सद्गुरु निभाते हैं गुणों के आधार पर इस नश्वर संसार में सद्गुरु मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं पारस गुरु, दीपक गुरु, चंदन गुरु एवं भृंगी गुरु, दीक्षा भी तीन प्रकार की होती है। शाम्भवी, शक्ति व मान्त्री,। शाम्भवी दीक्षा वर्णन शास्त्र में कहा है कि जब सद्गुरु कोई एक शब्द या उपदेश करें शिष्य के अन्दर सुप्त चेतना तुरन्त जाग जाए। शक्ति दीक्षा वह होती है जब सद्गुरु अपने जीवन की आध्यात्मिक कमाई अपने मुख्य भक्तों में स्थानान्तारित कर उनके हृदय में ईश्वर नाम की ज्योति जलादे। इसके अतिरिक्त इस संसार

में बहुत अधिक मात्रा में प्रयोग की जाने वाली मान्त्री दीक्षा है। मान्त्री दीक्षा में सद्गुरु कोई शब्द या मन्त्र बता दें उसके जाप के फलस्वरूप शिष्य का कल्याण होता है।

इसलिए मानव को किसी न किसी सद्गुरु से दीक्षा अवश्य ले लेनी चाहिए जिससे पूर्णता को प्राप्त हो जाए दीक्षा से पूर्व प्राणी अपूर्ण होता है।

दीक्षा ग्रहण करने वाले भक्तों को चाहिए कि दीक्षा जहाँ से उन्होंने ग्रहण की है उनके नियमों का पालन करते हुए अभ्यास में लगे रहें तभी आत्मकल्याण होगा।

योग साधना अर्थात् मन को स्थिर करने में अन्न का प्रभाव अवश्य पड़ता है **"यथाऽन्नं तथा मनः"** गुरुदेव जी बारम्बार अपने प्रवचन में समझाया करते थे सात्विक पदार्थों का सेवन करो अभ्यासी साधक को दूषित विचारों वालो के घर के अन्न से तथा निन्दित ढंग से कमाए गए धन से उपलब्ध अन्न से बचना चाहिए। मन के ऊपर अन्न का प्रभाव अवश्य पड़ता है अपवित्र रहने वाले हाथों का बनाया हुआ अन्न भी सेवन वर्जित है उसके कीटाणु उस भोजन के द्वारा उसके मन पर सीधा असर करते हैं शुद्धि का पूर्ण विचार आवश्यक है।

क्योंकि गुरुमन्त्र एक छोटे पौधे की तरह है जिसके चारों ओर जानवरों-पशुओं से बचाने के लिए तारें लगानी पड़ती हैं लेकिन जब पौधा जब वृक्ष बन जाता है तो जानवर उसकी शरण में आकर छाया ग्रहण करते हैं।

अतः भक्ति व जाप-तथा ध्यानावस्था का अभ्यास करते हुए प्रारम्भ में दूषित विचारों वाले मानवों के संग से तामसिक द्रव्यों के सेवन से बचना अनिवार्य है मन को पवित्र रखना चाहिए कुत्सित विचारों को मन से दूर रखने का अभ्यास करना चाहिए मन इनकी ओर बड़ा भागता है बड़ा चंचल है मन एवं चंचलम् पंजाबी में भी कहा है **"एह मन बड़ा चंचल है कि वे तेरा नाम जपां, जिन्हां इसनु समझावा उन्हां ही मचल जाए।** चित्त की वृत्तियों को स्थिर करने का अभ्यास करते रहना ही योग है।

चित्त की वृत्तियों में जब स्थिरता आ जाएगी शिष्य अर्थात् साधक पूर्णता को प्राप्त हो जाएगा। वैसे तो सद्गुरु के साथ सम्बन्ध स्थापित होने के बाद अर्थात् गुरुदीक्षा लेने के बाद मनुष्य में पूर्णता आ जाती है। गुरु की कृपादृष्टि हर समय अपने बच्चों पर रहती है उसकी हर आपत्ति को अपने हर संकल्प से हटाते रहते हैं समय-समय पर उसकी सहायता में तत्पर रहते हैं जैसे वन में चरती हुई गाय का ध्यान अपने बच्चे पर प्रतिक्षण बना रहता है।

आत्मा सर्वशक्तिमान, विश्व को प्रकाशित करने वाली, विश्व कल्याणकारी, विघ्न विनाशक, कर्मातीत, शुद्ध, पवित्र तथा परमात्मा द्वारा रक्षित है।

सद्गुरु कृपा बिना आत्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं

डा॰ ओमप्रकाश ब्रह्मचारी एडवोकेट

नारायणं पदमभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशरंच,
व्यासं शुकं गौड पदं महान्तं, गोविन्द योगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।
श्री शंकराचार्यमथास्य पदमं पादं च हस्तामलकं च शिष्यम्,
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मद् गुरुन संततमानितोऽस्मि्।।

भारतदेश अध्यात्म प्रधान व ऋषि-मुनियों का देश है। सद्ग्रन्थों व धर्मशास्त्र में दो प्रकार के अवतार वर्णित है:- (1) नित्यावतार (नित्य-अवतार) (2) नैमित्तिक अवतार। नित्य-अवतार में ऋषि-मुनि, धर्माचार्य, सन्त व महात्मा आते है और नैमिकक अवतार परंब्रह्म परेश्वर का सगुण रूप में होता है

'एकं सद् विप्रः बहुधा वदन्ति'। सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है।

'कर्त्तुअकर्त्तुर्म् अन्यथा कर्त्तुम समर्थो विशेषः सः ईश्वर।

जो करणीय व अकरणीय को अन्यथा करने में समर्थ है वह ईश्वर है। जो सभी भूत-प्राणियों की उत्पत्ति, प्रलय, गति-अगति, विद्या और अविद्या को जानता है उसे भगवान कहते हैं। वह षट् ऐश्वर्य सम्पन्न होता है।

काम, क्रोध व लोभ को जीतने वाला भगवान के समान है और षट्विकारों- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद व मत्सर को जीतने वाला, पापाचरण से रहित, तुस्करहित, अचल, अकिंचन, सुखधाम जैसे सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्तित्वशाली ईश्वर को भी अपने वश में कर लेता है।

'आत्मा और परमात्मा, जुदा रहे बहुकाल।
सुन्दर मेला कर दिया, जब सद्गुरु मिले दलाल'

जो आत्मा को परमात्मा से मिला दे, वह महात्मा है। आत्म साक्षात्कार भगवत् प्राप्ति के लिये 4 (चार) कृपाओं का होना परमावश्यक है।

(1) भगवद्कृपा (ईश्वर कृपा) (2) सद्गुरु कृपा (3) शास्त्र कृपा और (4) आत्म कृपा व्यास भगवान के शब्दों में-

'श्लोक अर्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगद्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः

मानव जीवन के चार प्रधान पुरूषार्थ- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष बतलाये गये हैं।

'धर्म, अर्थ, काम, मोक्षाणाम् मूलभूतं कलेवरम्'

मानव शरीर से ही सत्कर्म और पुण्य अर्जित किये जा सकते हैं। पाप और पुण्य दोनों के बराबर हो जाने पर मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है।

'पाप-पुण्याभ्यां उभाभ्यां मानुस्यं लभते नरः'

हमारे धर्मशास्त्रों में 84 लाख योनियों का विवरण है- जिनमें जलचर, नभचर, थलचर, आदि सभी हैं। 84 लाख योनियों में भ्रमणोपरान्त मानव योनि भगवद्कृपा से ही प्राप्त होती है।

'Man is the best creation of the Creator'

सृष्टिकर्त्ता की मानव सर्वोत्तम सृष्टि (रचना) है। मानव शरीर प्राप्त कर- धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन कर, शास्त्रीय विधान से कामसेवन कर (पितृ ऋण से मुक्त होने हेतु) मोक्ष के लिये सतत् प्रयत्नशील रहकर परंब्रह्म की प्राप्ति करना चाहिये।

समाजशास्त्रियों ने व ऋषि मुनियों ने समाज की व्यवस्था को सुखद व सुचारु रूप से चलाने के लिये समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था को क्रियान्वित किया।

योग-योगेश्वर भगवान ने भी श्रीमद्भागवद् गीता में कहा है:-

'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं
गुण-कर्म विभागशः-' (श्रीमद्भगवद्गीता)

इस क्रम में चार आश्रम- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास और चार वर्ण- ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णित हैं, जो कि गुण, कर्म और विभागानुसार हैं

'जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात द्विजोच्यते'

हम सब जन्म से शूद्र उत्पन्न होते हैं और संस्कारों से (षोडस संस्कारादि) द्विजत्व को प्राप्त करते हैं।

मानव को महामानव, सतपुरुष व महापुरुष बनाने में सात व्यक्तियों का सहयोग होता है:-

(1) दाई (धाय) (2) माई (माता) (3) ताई (विमाता) (4) पिता (5) गुरु (6) धर्मगुरु और (7) सद्गुरु।

हम सब की प्रथम गुरु माता होती है। पिता भी गुरु की श्रेणी में आता है। शिक्षा गुरु, धर्मगुरु और सद्गुरु की भूमिका तदुपरान्त आती है।

'इदं शरीरं खलु धर्मसाधनं'

जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

अतः भगवद् कृपा से मानव शरीर प्राप्त कर आश्रम परम्परा का पालन करते हुये, जीवन मुक्ति प्राप्तकर परंब्रह्म को प्राप्त करना चाहिये। सद्शास्त्र, धर्मग्रन्थ एवं नित्य-नैमित्तक कार्यों

को विधिविधान से अनुसरण करना चाहिये।

आश्रमाद् आश्रमं गच्छेत् गृही भूत्वा वनं व्रजेत्'

जो अपनी मनु इन्द्रियों को वश में कर जितेन्द्रिय हो सकता है, अभ्यास वैराग्य से चंचल मन को वश में करले- वह आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत भी धारण कर सकता है किन्तु यह सद्गुरु कृपा विना कदापि सम्भव नहीं।

पितृ ऋण, देव ऋण और ऋषि ऋण से मुक्त होने के लिये ही आश्रम परिपाटी का पालन करना होगा किन्तु जो अपने आपको भगवान के अर्पित कर दें, उसकी शरणागति में हो जाय और मनसा, वाचा, कर्मणा ब्रह्म का ही चिन्तन, स्मरण, जप-पूजा आदि करें, उसके ऊपर श्रीमद्भागवत् महापुराण के एकादश स्कन्ध के दसवें अध्याय के अनुसार कोई भी ऋण बाकी नहीं रहता है। निवृत्ति मार्ग से अवधूत परम्परा का पालन कर आत्म कल्याण कर सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में शिष्य के चार लक्षण बतलाये गये हैं-

(1) श्रद्धावान (2) तत्पर (3) जितेन्द्रिय व (4) ब्रह्मनिष्ठता (ब्रह्मनिष्ठ का मार्ग दर्शन आदि गुरु भगवत्पाद श्री शंकराचार्य ने भी शिष्य के निम्न लक्षण वर्णित किये है:-

(1) विवेक (2) वैराग्य (3) षट्सम्पत्ति और (4) मुमुक्षुत्व।

षट्सम्पत्ति के अन्तर्गत- सम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान हैं। अतः विमल विवेक के लिये भगवद् कृपा और गुरु कृपा दोनों का होना परमावश्यक है।

"तुलसीदास हरि-गुरु करुणा बिन, बिमल विवेक न होई।
बिन विवेक संसार घोर निधि, पार न पावे कोई।।"

'पापान हरति इति हरिः' जो पापों का हरण करें वह हरि (ईश्वर) है **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** जो अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाय बुराई से अच्छाई की ओर ले जाय, ज्ञान की ज्योति हृदय में जगा दें वह सच्चा गुरु है।

'दुर्लभो विषयः त्यागो, दुर्लभो तत्व दर्शनम्।
दुर्लभो सहजा अवस्था, सद्गुरु करुणा बिना।।'
सद्गुरु की अहेतु की, स्वार्थ रहित कृपा होती है।
'सद्गुरु ने बाण दिये, निरखि-निरखि भरपूर।
बाहर घाव न दीख ही, भीतर चकना चूर।।
सद्गुरु बड़े सर्राफ हैं, परखें खरा और खोट।
भवसागर से काढि के, राखें अपनी ओट।।'

श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु ही शिष्य को आत्मज्ञान कराकर, ज्ञान और विराग रूपी विलोचन प्रदान करता है जिससे भगवद् दर्शन होते हैं। संसार चर्म चक्षुओं से दिखाई देता है जिन्हें माता पिता देते है और परमात्मा विलोचन से दिखाई देता है जो सद्गुरु देता है।

नित्य अवतार की कोटि में ही महाप्रभु श्री रामलाल जी व योगिराज गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज आते हैं।

'अवतरति इति अवतारः'

करुणा वरुणालय, दीनबन्धु, भक्त वत्सल्य महाप्रभु जी व योगिराज गुरुदेव ने धर्मरक्षार्थ, दीन दुःखियों के उद्धार के लिये ही धरा-धाम पर अवतरित होकर ईश्वरीय प्रेरणा से जन-जन में योग, धर्म, व भक्ति का प्रचार-प्रसार किया।

सवांई धाम, सिद्धगुफा एत्मादपुर की कीर्ति आज सर्वत्र फैल रही है!

शास्त्र कृपा भी साधना में आवश्यक है।

भगवद्प्राप्ति के 3 साधन धर्मशास्त्रों में कहे गये हैं-

(1) कर्मयोग (2) भक्तियोग (3) ज्ञानयोग। मल, विक्षेप व आवरण के अनुसार सद्गुरु क्रम से इन साधनों का अधिकारी शिष्य को बना देते हैं।

अष्टांग योग- यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का व्यवहारिक व क्रियात्मक सफल प्रयोग महाप्रभु रामलाल जी ने स्वयं व्यक्तिगत रूप से किया और योगिराज गुरुदेव चन्द्रमोहन जी महाराज ने भी उनकी धरोहर को सुरक्षित रखकर स्वयं पालन कर, राष्ट्र, समाज व धर्म प्रेमी जनता का मार्गदर्शन व पथ-प्रदर्शन किया। आज भी असंख्य योग के अनुयायी सिद्धगुफा सवांई आते है। प्रभुजी की गुफा की चरणरज मस्तक पर लगाते हैं। गुरुदेव के मन्दिर (गुरुदेव निवास) में मत्था टेककर अपने को धन्य व कृत-कृत्य मानते हैं।

अतः आत्म कृपा के रूप में हमें सद्गुरु द्वारा उपदेशित व प्रचलित मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। गुरु पूर्णिमा, गुरुदेव का जन्म दिन व रामनवमी चैत्र के उत्सव में आकर अपनी बैटरी चार्ज कर भव सागर से पार होना चाहिये।

मनुष्य जीवन भर शरीर को ही अपना अस्तित्व मानकर उसी को सजाने सँवारने में लगा रहता है। आत्मा की चर्चा एवं चिन्तन के लिए तो उस पर समय ही नहीं है।

सिद्धयोग ही क्यों?

कृष्णानन्द गुप्त

मनुष्य मात्र सुख की खोज में लगा हुआ है परन्तु सुख है कहां! जगदात्मा श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं-

ये हि संस्पर्शजा भोगा
दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय
न तेषु रमते बुधः॥

(गीता 5/22)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुख रूप भासते हैं, तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि अन्त वाले अर्थात् अनित्य है। इसलिए हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

योगदर्शन में कहा है-

परिणामताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

(साधनपाद 15)

'परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख-आदि अनेकों दुःखों से मिश्रित होने तथा सात्विक, राजस, तामस वृत्तियों में विरोध होने से भी विवेकी पुरुषों की दृष्टि में सम्पूर्ण विषय-सुख दुःखरूप ही है।'

यदि कोई मनुष्य अज्ञानवश इस विषय सुख को सुख भी माने तो विचार करने पर मालूम हो जायगा कि यह सुख कितना अस्थिर है। देश, काल, और वस्तु से परिच्छिन्न होने के कारण यह सर्वथा क्षणभंगुर, विनाशशील और अत्यन्त अल्प ही है।

इसीलिए तो नचिकेता ने यमराज के अनेक प्रलोभन देने पर भी उनसे यही कहा-

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्-
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव।
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

(कठोपनिषद् 1/1/26)

'हे यमराज! ये समस्त भोग 'कल रहेंगे या नहीं' इस प्रकार के संदेह युक्त एवं सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करने वाले हैं। यही क्या, यह सारा जीवन भी थोड़ा ही है। इसलिए ये आपके पास ही रहें, मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है।' यह तो इस जीवन-काल में इन भोगों से मिलने वाले सुख की बात है। मरने के बाद तो इनमें से कोई भी पदार्थ किसी भी हालत में रंचमात्र भी किसी के साथ जा ही नहीं सकता। कवि ने कहा है-

चेतो हरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः,
सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चदस्ति॥

'जिनके अत्यन्त मनोहारिणी स्त्रियां हैं, अनुकूल मित्र हैं, बड़े ही सुयोग्य बन्धु-बान्धव हैं और प्रेम भरी मीठी वाणी बोलने वाले सेवक गण हैं और तीव्र वेग वाले घोड़े हिन-हिना रहे हैं, ऐसे पुरुष की भी जब आंखें मुंद जाती हैं तो न तो कोई भी उसका अपना ही रह जाता है और न कोई भी वस्तु उस समय उसके काम आ

सकती है।' तात्पर्य यह कि इन भौतिक विषयों में सुख नहीं है, सुख तो अपने मन को बाह्य-जगत से हटाकर अन्तर जगत में लगाने से ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि यह कहा है-

'मनो निवृत्तिः परमोपशान्तिः।'

(काशी पञ्चक॰ 1)

'मन की निवृत्ति हो जाने पर परमशान्ति होती है।' बन्धन और मोक्ष का कारण एक मात्र मन ही है-

मन एव मनुष्याणां
कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धनं विषयासक्तं-
मुक्त्यै निर्विषयं मनः।।

(त्रिपुरा तापिन्यो॰ 5/3)

अर्थात् मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन से बन्धन तथा विषय-रहित मन से मोक्ष होता है।

भगवान शङ्कराचार्य जी ने भी कहा है- जगत को किसने जीता ! जिसने मन को जीता है।

जितं जगत्केन मनो हि येन।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में बताया है कि मन की शान्ति से ही उत्तम आनन्द की प्राप्ति हो सकती है-

प्रशान्तमनसं ह्येनं
योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं
ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।

(गीता 6/27)

'जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है और जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।'

मन को संयमित करने के लिए 'योगदर्शन' में अभ्यास और वैराग्य को ही साधन रूप से कहा गया है-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(यो॰ समा॰ 12)

इन प्रकरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मन को अन्तर्मुखी बनाने से ही शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है और मन योग के द्वारा संयमित हो जाता है इसलिए वास्तविक सुख की कामना वाले मनुष्य के लिए योग ही परम अवलम्ब है। तभी तो जगदात्मा श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन को योगी बनने की आज्ञा देते हैं-

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन।।

(गीता 9/46)

'योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और शास्त्र के ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो।'

न च तीव्रेण तपसा न
स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं गन्तुं द्विजाः शक्ता
योगात् संप्राप्नुवन्तियाम्।।

(अविस्मृतिः 1/7)

'तीव्र तप, स्वाध्याय अथवा यज्ञों द्वारा ब्राह्मण उस गति को प्राप्त नहीं करता जिसको कि योग की शक्ति से प्राप्त कर लेता है।'

श्री परम पिता परमात्मा के साथ युक्त हो जाना ईश्वर को यथार्थ में पा लेना अथवा ईश्वरमय हो जाना यही जीव का परम ध्येय है। जब तक मनुष्य इस स्थिति में नहीं पहुँच जायगा, तब तक न उसको तृप्ति होगी, न शान्ति मिलेगी, न भटकना बन्द होगा और न किसी पूर्ण, नित्य, सनातन, आनन्द रूप तत्व संयोग की अतृप्त और प्रच्छन्न आकांक्षा की पूर्ति होगी। इस पूर्ण के संयोग का नाम ही योग है। अथवा इसको पाने के लिए जो जीव का विविध रूप सावधान प्रयत्न है, उसका नाम भी योग है। यह पूर्ण की प्राप्ति का प्रयत्न जिस क्रिया के साथ जुड़ता है, वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, लययोग, हठयोग और सिद्धयोग आदि इसी के नाम हैं।

सभी साधनों का लक्ष्य मोक्ष या परमानन्द की प्राप्ति है। सारे ही साधनों की गति उस एक ही परम ध्येय की ओर है। फिर ऐसा साधन क्यों न साधना चाहिए, जिससे रुकने या गिरने का डर न हो, और इसी जीवन में लक्ष्य तक पहुँच जाने का निश्चय हो। ऐसा साधन है 'सिद्धयोग' और सभी साधनों में विघ्न है परन्तु 'सिद्धयोग' सर्वथा निर्विघ्न है परन्तु 'सिद्धयोग' सर्वथा निर्विघ्न है क्योंकि सिद्धयोग का साधक सिद्धानुग्रह (श्री गुरुदेव कृपा) से कोई विघ्न महसूस नहीं करता उसके सारे विघ्न श्री सद्गुरुदेव दया करके हटा दिया करते हैं, और साधक निर्विघ्न होकर अपने साधन पथ पर चलकर अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर परम श्रेय का भागी हो जाता है। पूर्ण शक्ति के मालिक श्री गुरुदेव दया करके अधिकारी शिष्य को 'सिद्धयोग' का उपदेश देकर उसे कृतार्थ कर देते हैं। ऐसे गुरुदेव साधक के अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुञ्ज के फलस्वरूप मिला करते हैं।

'सिद्धयोग' के प्रदाता गुरुदेव की महिमा यत्र तत्र सर्वत्र मुक्त कण्ठ से गाई गई है-

गुरु शब्द की रचना 'गु' तथा 'रु' के संयोग से हुई है 'गु' का अर्थ है अन्धकार तथा 'रु' का अर्थ है-प्रकाश।

गु शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति
रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार विरोधित्वाद
गुरु रित्यभिधीयते।।

'न गुरोरधिकम्' – गुरुदेव के समान विश्व में कोई वस्तु नहीं है।

यः शिवः स गुरुः स्मृतः।

जो शिव हैं, वही गुरु है। इन दोनों में कोई, भेद नहीं है। सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ 'वीर शैव सिद्धान्त' में कहा है-

सप्त सागर पर्यन्तं,
तीर्थ-स्नान फलं सदा।
गुरोरङ्घ्रि पयोबिन्दु
सहस्रांशं न पूरयेन्।।

'सप्त समुद्र-तीर्थ स्नान भी गुरु पादोदक के एक बिन्दु के समान नहीं है।'

'कौलोपनिषद' जो तन्त्र-शास्त्र का परम मान्य उपनिषद् है, वर्णन करता है-'गुरुरेकः।'

जिसका तन्त्रान्तर भाष्य देता है-

आदि नाथो महादेवि
महाकालो हियः स्मृतः।
गुरुः स एव देवेशि
सर्व मन्त्रेषु नापरः।।

अर्थात्--मुमुक्षु को मनन से त्राण दिलाने वाले अर्थात् मन्त्र का उपदेश देने वाले गुरु में स्वयं महाकाल ही उपदेश के समय आविर्भूत होते हैं। श्रुति भगवती कहती हैं-

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

'तत्त्व ज्ञान के लिए सद्गुरु की ही शरण में जाना चाहिये।' परमहंस संहिता श्रीमद्भागवत में जहां एक-एक दोष जीतने का एक-एक साधन बताया है, उसी प्रसङ्ग में सर्व दोष विजय का केवल एक साधन भी कहा है। वह है श्री गुरु चरणों में अनन्य भक्ति-

एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या
पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।

गोमती तन्त्र में वर्णन आता है कि बिना गुरु दीक्षा के साधक जो भी साधन करता है उसकी सब साधन क्रियायें व्यर्थ हो जाती हैं-

अथ दीक्षा प्रवक्ष्यामि,
सर्व कामार्थ सिद्धिदाम्।
या विना नैव सिद्धः
स्यानमन्त्रो वर्षशतैरपि।।
तया विना महादेवि,
ह्यधिकारो न कर्माणि।
सर्वा श्रमेषु भूतेषु,
सर्व देवेषु सुव्रते।।
दीक्षा विना महादेवि,
तस्य सर्व वृथा भवेत्।
दीक्षामूलं जगत्सर्वं,
दीक्षामूलं परं तपः।।
दीक्षामूलं महासिद्धिस्त-
स्माद्दीक्षा समाचरेत्।
अदिक्षिता ये कुर्वन्ति,
जपपूजादिकाः क्रियाः।
न भवन्ति प्रियं तेषा,
शीलायामुप्त बीजवत्।।

अर्थात्-दीक्षा सम्पूर्ण काम और अर्थ की सिद्धि को देने वाली है। इसके न लेने से सौ वर्ष तक भी मन्त्र जपते रहिये, मन्त्र की सिद्धि नहीं मिलेगी। इसके बिना हे महादेवि! मनुष्य कर्मानुष्ठान का अधिकारी नहीं होता। दीक्षा ही सबका मूल है। इसीसे तपस्या फलदायिनी होती है। इसीलिए दीक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। शीला में जमाया हुआ बीज जैसे नहीं उगता, वैसे ही दीक्षा न लेने वाले पुरुष की सब क्रियायें व्यर्थ हो जाती हैं। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है कि कल्याण-कामी मनुष्य के लिए जो शाश्वत सुख का अभिलाषी हो उसे श्री सद्गुरु कृपा से योगमार्ग में लगाकर अपने को कृतार्थ कर लेना चाहिए, क्योंकि गुजरना तो सबको पड़ेगा योग में से ही होकर, चाहे वह सीधे योग में लग जाय या लम्बी प्रक्रिया पार करके आवे। इसीलिए भगवान शंकर ने पार्वती जी से कहा है-

योगात्संप्राप्यते ज्ञान
योगो धर्मस्य लक्षणम्।
योगः परं तपोज्ञेयः
तस्मात् योगं समभ्यसेत्।।

अर्थात्- "योग से ज्ञान प्राप्त होता है,योग ही धर्म का लक्षण है,योग ही परम तप है, अतः प्रयत्न के साथ योग का ही अभ्यास करना चाहिए।"

गुरु-भक्त बालक उत्तंक

सुरेन्द्र बहादुर एम० ए०, दर्शनशास्त्र

अपने प्रिय शिष्य उत्तङ्क की सेवा से प्रसन्न होकर आचार्य महर्षि वेद ने कहा- "बेटा उत्तङ्क तुमने धर्म- पूर्वक मेरी सेवा की है। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अब मैं तुम्हें घर लौटने की आज्ञा देता हूँ। जाओ, तुम्हारी सभी कामनायें पूर्ण होंगी।" गुरुदेव के वचनों को सुनकर उत्तङ्क ने विनयपूर्वक प्रार्थना की, भगवन्! मैं आपकी आज्ञा के अनुसार ही आपको दक्षिणा भेंट करना चाहता हूँ। अतः आप मुझे आज्ञा दें कि मैं आपको क्या दक्षिणा दूँ।' गुरुदेव चुप रहे। उन्होंने उत्तङ्क को कुछ दिन और आश्रम में ठहरने की आज्ञा दी।

एक दिन उत्तङ्क ने पुनः अपनी प्रार्थना दुहराई। गुरुदेव ने उत्तर दिया, "वत्स उत्तङ्क! तुम बार-बार मुझसे कहते हो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ? अतः जाओ घर के भीतर प्रवेश करके अपनी गुरु-पत्नी से पूछ लो कि "मैं क्या करूँ गुरु दक्षिणा भेंट करूँ? वे जो बतावें वही वस्तु उन्हें भेंट करो।'

गुरु की ऐसी आज्ञा पाकर उत्तङ्क ने घर के भीतर जाकर गुरु-पत्नी से कोई अभीष्ट वस्तु गुरु-दक्षिणा के रूप में भेंट करके गुरु के ऋण से उऋण होने की इच्छा प्रकट की और उसने उस अभीष्ट वस्तु का नाम बतलाने की प्रार्थना उनसे की। गुरु-पत्नी बोलीं- 'वत्स! तुम राजा पौष्य के यहां से उनकी क्षत्राणी पत्नी के दोनों कुण्डलों को मांगलाओ, और उन कुण्डलों को लेकर शीघ्र आओ, क्योंकि आज के चौथे दिन पुण्यक व्रत के अवसर पर मैं उन कुण्डलों को पहनकर ब्राह्मणों को भोजन परोसना चाहती हूँ। तुम मेरा यह मनोरथ पूर्ण करो। तुम्हारा कल्याण होगा। अन्यथा कल्याण की प्राप्ति असम्भव है।

गुरु-पत्नी के ऐसा कहने पर उत्तङ्क वहां से चल दिये। रास्ते में उन्होंने एक बहुत बड़े बैल को और उस पर चढ़े हुए एक विशालकाय पुरुष को देखा। उस पुरुष ने उत्तङ्क से उस बैल का गोबर खाने के लिए कहा। पहले तो उत्तङ्क हिचकिचाये, किन्तु बाद में उस पुरुष की आज्ञा मानकर उस बैल का गोबर खाकर उतावली के कारण खड़े-खड़े ही आचमन किया और फिर वे वहां से चल दिये। क्षत्रिय राजा पौष्य के पास पहुंच कर उत्तङ्क ने उन्हें आसन पर बैठे पाया। उत्तङ्क ने राजा के समीप जाकर आशीर्वाद से उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा-"राजन्! मैं याचक होकर आपके पास आया हूँ।" राजा ने उन्हें प्रणाम करके कहा-"भगवन्! आपका सेवक पौष्य हूँ, कहिए किस आज्ञा का पालन करूँ?" उत्तङ्क ने उत्तर दिया, "राजन्! मैं गुरु-दक्षिणा के निमित्त उन दोनों कुण्डलों को आपसे लेने आया हूँ, जिन्हें आपकी पत्नी ने पहन रखा है। आप कृपया हमें वे दोनों कुण्डल दे दीजिये। यह कार्य आपके योग्य ही है।" राजा पौष्य ने उनकी याचना को स्वीकार कर लिया और उत्तङ्क को अन्तःपुर में जाकर क्षत्राणी से उन कुण्डलों को स्वतः मांगने की अनुमति दे दी। उत्तङ्क ने अन्तःपुर में प्रवेश किया। महारानी उत्तङ्क को

देखते ही उठकर खड़ी हो गयीं और प्रणाम करके बोलीं- 'भगवन् आपका स्वागत है, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ? उत्तङ्क ने महारानी से कहा-"देवि! मैंने श्री गुरुदेव के लिए आपके दोनों कुण्डलों की याचना की है। अतः आप उन्हें मुझे दे दें।" महारानी उत्तंक की गुरुभक्ति से बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने उत्तंक को सुपात्र ब्राह्मण जानकर अपने दोनों कुण्डलों को स्वयं उतार कर उन्हें दे दिया और उनसे कहा-"ब्रह्मन! नागराज तक्षक इन कुण्डलों को पाने के लिए बहुत प्रयत्नशील है। अतः आप इन्हें सावधान होकर ले जाइये।" रानी की बात को सुनकर अपने गुरुदेव के लाड़ले तथा गुरुदेव में अनन्य निष्ठा रखने वाले उत्तंक ने अपने गुरुदेव का भरोसा करते हुए कहा "देवि ! आप निश्चिन्त रहें। नागराज तक्षक मुझसे भिड़ने का साहस नहीं कर सकता।"

राजा तथा महारानी से आज्ञा लेकर उत्तंक दोनों कुण्डलों को लेकर वहां से चल दिये। मार्ग में उन्होंने अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणक को देखा जो कभी तो दिखाई देता और कभी छिप जाता था। कुछ दूर जाने के पश्चात् उत्तंक ने उन कुण्डलों को एक जलाशय के किनारे भूमि पर रख दिया और स्वयं शौच, स्नान, आचमन, संध्या-तर्पण आदि करने लगे। इतने में ही क्षपणक बड़ी शीघ्रता के साथ वहां आया और दोनों ही कुण्डलों को लेकर भाग गया। उत्तंक ने स्नान-तर्पण आदि जल सम्बन्धी कार्य पूर्ण करके शुद्ध और पवित्र होकर देवताओं और गुरु को नमस्कार किया और जल से बाहर निकल कर बड़े वेग से उस क्षपणक को पकड़ लिया। पकड़ में आते ही उसने क्षपराक का पीछा किया। वास्तव में वह नागराज तक्षक ही था। उत्तंक ने दौड़ते-दौड़ते उस क्षपणक का रूप त्याग दिया और तक्षक नाग का रूप धारण करके वह यकायक प्रकट हुए पृथ्वी के एक बहुत बिल में घुस गया। बिल में प्रवेश करके वह नागलोक में चला गया। उत्तंक को उस समय उस क्षत्राणी की बात का स्मरण हो आया। उसने नागलोक तक उस तक्षक का पीछा करने का निश्चय किया।

उत्तंक ने उस बिवर को अपनी लाठी से खोदना आरम्भ किया, किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। उस समय इन्द्र ने बालक उत्तंक को अपने गुरु के निमित्त इस प्रकार का क्लेश उठाते देखकर अपने वज्र को उस ब्राह्मण बालक की सहायता करने के लिए भेजा। वज्र ने डंडे की लकड़ी में प्रवेश करके उस बिल को विदीर्ण कर दिया और पाताल लोक तक पहुँचने का मार्ग बना दिया। तब उत्तंक उस बिल में घुस गये। उसी मार्ग से भीतर प्रवेश करके उन्होंने नाग-लोकका दर्शन किया, जिसकी कहीं सीमा नहीं थी। वह लोक अनेक प्रकार के मन्दिरों, महलों, ऊँचे-ऊँचे मण्डपों तथा सैकड़ों दरवाजों से सुशोभित और छोटे-बड़े सुन्दर क्रीड़ा स्थलों से परिपूर्ण था। उन्हें वहां दो स्त्रियां दिखाई दीं, जो सुन्दर करघे पर रखकर सूत के ताने में वस्त्र बुन रही थीं। उस ताने में उत्तंक ने काले और सफेद दो प्रकार के सूत और बारह अरों का एक चक्र भी देखा, जिसे छः कुमार घुमा रहे थे। वहीं एक श्रेष्ठ पुरुष भी दिखाई दिये, जिनके साथ एक सुन्दर अश्व भी था। उत्तंक ने पहले नागों की स्तुति की, परन्तु कुण्डल नहीं मिले फिर उसने उस श्रेष्ठ पुरुष की स्तुति की। तब वह पुरुष उत्तंक से बोले-'ब्रह्मन ! मैं तुम्हारी स्तुति से बहुत प्रसन्न हूँ। कहो तुम्हारा, कौन सा प्रिय कार्य

करूं?' उत्तंक ने वर मांगा–'सभी नाग मेरे अधीन हो जायें।' वह पुरुष उत्तंक से बोला–'इस घोड़े की गुदा में फूंक मारो।' यह सुनकर उत्तंक ने घोड़े की गुदा में फूंक मारी। फूंक मारते ही घोड़े के शरीर के समस्त छिद्रों से धुएँ सहित आग की लपटें निकलने लगीं। सारा नागलोक धुएँ से भर गया। तक्षक घबरा गया और आग की ज्वाला के भय से दुःखी होकर दोनों कुण्डल लिये घर से बाहर आया और विनयपूर्वक दोनों कुण्डल उत्तंक को लौटा दिये।

उत्तंक ने दोनों कुण्डलों को पुनः प्राप्त तो कर लिया, किन्तु उसी दिन उनकी गुरु–पत्नी का पुण्यक व्रत था, अतः समस्या थी तत्काल नाग-लोक से गुरु-गृह पहुंचने की। उत्तंक चिंतित हो उठे। वह पुरुष उत्तंक के मनोभावों को समझ गया और उसने उत्तंक को अपने घोड़े पर बैठाकर तत्काल गुरु के घर पहुँचा दिया। इधर गुरु-पत्नी स्नान करके उत्तंक की प्रतीक्षा करते-करते क्रुद्ध होकर उसको शाप देने का विचार कर रही थी। ठीक उसी समय उत्तंक दोनों कुण्डलों को हाथ में लिये गुरु-पत्नी के पास पहुँच गया और विनयपूर्वक प्रणाम करके वे दोनों कुण्डल सादर समर्पित कर दिये। गुरु पत्नी ने प्रसन्न होकर उत्तंक को सर्व-सिद्धि प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। गुरुदेव ने भी गद्गद कण्ठ से उत्तंक को आशीर्वाद दिया। उत्तंक तत्काल ही सारी विद्याओं के ज्ञाता बन गये।

हमारे शास्त्रों ने हमें शिक्षा दी है–गुरु-भक्ति सदा कुर्यात् श्रेय से बभूसे नरः। अर्थात् जो मनुष्य अपना परम कल्याण चाहता है, उसे गुरु–भक्ति का मार्ग संसार में कोई नहीं रोक सकता। गुरु-भक्ति के कारण ही उत्तंक सदा के लिए अमर हो गये।

सन्त वचन

इसमें सन्देह नहीं कि सांसारिक जीवन उस मनुष्य के लिए बहुत भयानक है, जिसके अन्तःकरण में ईश्वर के लिए प्रेम और भक्ति न हो। चैतन्यदेव ने एक बार नित्यानन्द जी से कहा था कि मनुष्य सांसारिक विषयों का गुलाम हो गया, उसको मुक्ति नहीं मिल सकती, परन्तु जो मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा रखता है, उसको कुछ भय नहीं। ईश्वर की प्राप्ति हो जाने के बाद यदि मनुष्य इस संसार के सब विषयों का उपभोग करता रहे तो उसको कोई हानि न होगी। चैतन्य देव के शिष्यों में बहुतेरे संसारीजन थे, परन्तु नाममात्र के लिए ही 'संसारी' थे।

श्रद्धा क्या? लक्षण, उपयोगिता और महत्व

देवी प्रसाद शर्मा 'दिव्य'

श्रद्धा क्या है, उसका स्वरूप और लक्षण क्या है, जीवन में उसकी उपयोगिता व महत्व कितना व क्या है? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से सामने आ खड़े होते हैं, उन जिज्ञासु साधकों के सामने जो श्रीमद्भगवद् गीता में योग-योगेश्वर जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की इस उक्ति को स्वयं पढ़ने अथवा गुरुमुख से सुनने का अवसर प्राप्त कर पाते हैं :-

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।

गीता 6/47

अर्थात्-सम्पूर्ण योगियों में भी वह श्रद्धावान योगी मुझे परम श्रेष्ठ और मान्य है जो अन्तरात्मा को मेरे में लगाकर निरन्तर मुझे भजता रहता है।

इस श्लोक में 'श्रद्धावान् योगी' वाक्य अपनी विशिष्टता का परिचय स्पष्ट रूपेण दे रहा है। जिसका हृदय श्रद्धा-समन्वित होता है वही श्रद्धावान् योगी कहलाता है। श्रद्धावान् योगी अन्य सभी योगियों की अपेक्षा भगवान को अधिक श्रेष्ठ, अधिक मान्य और अधिक प्रिय होता है। यह सबसे बड़ी महत्ता हुई श्रद्धा और श्रद्धावान् की।

शास्त्र का निश्चित मत है :-

ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः।

अर्थात्-बिना ज्ञान का आश्रय लिए मनुष्य की मुक्ति नहीं होती। जब तक मुक्ति अथवा मोक्ष पद को मनुष्य प्राप्त नहीं कर पाता तब तक वह 'पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्' के विकट और दुखदायी पाश-जाल से उसका मुक्त हो जाना सम्भव नहीं हो पाता। अतः पापों और सांसारिक कष्टों से त्राण पाने का एकमात्र उपाय ज्ञान का प्राप्त कर लेना ही है। जैसा कि योग-योगेश्वर ने गीता में ही अन्यत्र कहा है-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।

गीता 4-36-37

निस्संन्देह अच्छी प्रकार से सुरक्षित रूप में तु पार हो जायेगा। और हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर डालती है वैसे ही ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जो बन्धन का कारण बनते हैं, भस्म कर डालती है।

श्रीमद्भगवद्गीता के इसी अध्याय 4 में आगे भगवान ने यह ही कहा है कि **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'** यानी इस संसार में ज्ञान से अधिक पवित्र और श्रेष्ठ दूसरी वस्तु नहीं है। इसलिये तु ज्ञान प्राप्त कर।

अर्जुन ज्ञान की ऐसी महिम सुनकर इस ऊहा-पोह में पड़ गया कि ज्ञान जैसी अद्वितीय पवित्रम वस्तु प्राप्त कैसे हो ? वह भगवान से इस बारे में कुछ पुछता, इसके पुर्व ही उसे भगवान स्वयं बताने लगे-

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रिय।

गीता 4/39

अर्थात्-इस ज्ञान को वे ही प्राप्त कर पाते हैं जो श्रद्धवान ओर संयतेन्द्रिय होते हैं। भगवान के इस कथन में संयतेन्द्रिय शब्द से पूर्व 'श्रद्धावान' शब्द आया है। यह इस बात का परिचायक है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य किसी और गुण से पहले श्रद्धावान् होना आवश्यक है। बिना श्रद्धावान् हुए ज्ञानाग्नि की ज्योति साधक के हृदय में प्रज्वलित ही नहीं हो सकती। यह श्रद्धा भी सात्विक होनी चाहिए, राजसी और तामसी नहीं। जगदात्मा ने यह भी विस्तार से बताया है कि श्रद्धा स्वभावजा है यानी मनुष्य के स्वभाव से ही उत्पन्न हुई होती है। और वह त्रिगुणों से प्रेरित सात्विक राजस और तामस तीन भेदों वाली होती है। उच्चतम् और पवित्रतम् ध्येय की प्राप्ति के लिए सात्विक श्रद्धा ही फलवती हो सकती है। अतः साधक को सात्विक आचार-विचार और आहार-विहार द्वारा सात्विक श्रद्धा को ही अपने में धारण करना चाहिए। भगवान का यह भी स्पष्ट कथन है कि-चूँकि श्रद्धा स्वभावजा है, मनुष्य की अन्तरात्मा से यह उत्पन्न होती है, अतः अन्तःकरण के शुद्ध होने पर श्रद्धा स्वतः सात्विक हो जाया करती है। जो पुरुष जिस स्व भाव और प्रकृति का होता है उसकी श्रद्धा भी वैसी ही होती है। यदि व्यक्ति तामसी स्वभाव का है तो उसकी श्रद्धा तामसी होगी, यदि राजसी स्वभाव का है तो श्रद्धा राजसी और सात्विक स्वभाव वाला है तो श्रद्धा सात्विक होगी ही। सुनिए इसे आप परम योगेश्वर श्रीकृष्ण के ही शब्दों में :-

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

गीता/17-3

इतना ही नहीं इस सम्बन्ध में भगवान यह भी बता रहे हैं कि किस मनुष्य की श्रद्धा किस गुण से समन्वित है, इसका पता उनकी अर्चना-विधि से चल जाता है। जैसे-

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्ष रक्षांसि राजसाः।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।

गीता 17/4

अर्थात्-सात्विक श्रद्धा वाले देवें को पूजते हैं और राजस श्रद्धा वाले यक्ष और राक्षसों को पुजते हैं तथा अन्य जो तामसी श्रद्धा वाले है वे प्रेत-भूतात्माओं को पूजते हैं।

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि संसार-बन्धन से छूटने और मुक्त पद पाने के लिए जिस पवित्रतम् ज्ञान की आवश्यकता है वह सात्विक श्रद्धावान पुरुषों को ही सुलभ हो पाता है। ऐसे पुरुषों को लौकिक यश, कीर्ति और सुख-शान्ति का अभाव भी नहीं रहता। सत्व-गुण समन्वित श्रद्धालु व्यक्तियों की ही उर्ध्वगति प्राप्त हुआ करती है, यह भी मान्यता महामना श्रीकृष्ण की है। गीता अध्याय 14 के श्लोक संख्या 18 में वे कह रहे हैं :-

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था-सत्व गुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों की प्राप्त होते हैं तथा **सत्वं संजायते ज्ञान**-सतोगुणी पुरुष ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। उच्च पद के आकांक्षी सभी सतोगुणी पुरुषों को श्रद्धा को ही अपना आधार बनाना पड़ता हैं। बिना श्रद्धा के सभी धार्मिक कृत्य **यज्ञ, दान, तप** आदि उत्तम फल की प्राप्ति नहीं करा पाते। इसे भी भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता के माध्यम से समझा रहे हैं :-

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न त तत्प्रेत्य नो इह।।

गीता 17/28

अर्थात-हे पार्थ बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है वह असत् कहा जाता है। इसलिए यह सब कर्म न लौकिक लाभ पहुँचा पाते हैं, और न मरणोपरांत ही निःश्रेयस की प्राप्ति करा पाते हैं। इसलिए आध्यात्मिक-धार्मिक और लौकिक जीवन को सम्पन्न, उज्जवलतम् और सफलीभूत बनाने के लिए सात्विक श्रद्धा को आत्मसात करने के प्रयत्नों को वरीयता देना ही प्रत्येक साधक का मुख्य धर्म हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में विश्वात्मा भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कथित उपरोक्त सभी सूक्तियाँ श्रद्धा की महत्ता और उपयोगिता का स्पष्ट सा चित्रण प्रस्तुत कर रही हैं।

योगदर्शन में भगवान पतञ्जलि ने भी श्रद्धा को वरणीय गुणों में प्राथमिकता दी है। समाधिपाद का सूत्र संख्या 20 ध्यान देने योग्य है जो इस प्रकार है :-

श्रद्धावीर्यस्मृति समाधि **प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।**

अर्थात्- जिनका उपाय प्रत्यय है उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन सब उपायों द्वारा असंप्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

इस सूत्र पर भगवान व्यास देव ने अपने भाष्य में 'श्रद्धा' शब्द की विवेचना करते हुए लिखा है कि श्रद्धा-चित्त का सम्प्रसाद है, वह योगी की कल्याणी माँ के समान रक्षा करती है। उसे पालती पोषती

है। इस प्रकार श्रद्धायुक्त विवेकार्थी में वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्यमान में स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति की उपस्थिति से चित्त अनाकुल होकर समाहित होता है। समाहित चित्त में ही प्रज्ञा का विवेक या विशिष्टता उत्पन्न होता है। इस विवेक या विशिष्टता से ही योगी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं।

व्यास-भाष्य के इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि सूत्रगत सभी विशिष्टताओं की उपलब्धि का आदि मूल श्रद्धा है। श्रद्धा अगर नहीं है तो अन्य दूसरे गुण भी विकसित नहीं हो सकते। अतः मानना होगा कि योग मार्ग में श्रद्धा की अपनी उपयोगिता और महत्ता है।

वेदों और उपनिषदों में भी श्रद्धा की महिमा का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। प्रस्तुत है यहीं ऋग्वेद के कुछ मन्त्र-

श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धा भगस्ये मूर्धनि, वचसा वेदयामसि।।

(10/151-1)

अर्थात्- श्रद्धा द्वारा यज्ञाग्नि प्रदीप्ति की जाती है। श्रद्धा द्वारा (हविः हूयते) हवि की आहुतियाँ दी जाती हैं। (भगस्य) धर्म की मूर्धा पर श्रद्धा को हम (वचसा) वैदिक वचन द्वारा हम विज्ञापित करते हैं।

यज्ञ और आहुतियाँ श्रद्धापूर्वक ही दी जानी चाहिए। धर्म अगर धड़ है तो श्रद्धा उसका सिर। बिना सिर के धड़ का कोई मूल्य व उसका कुछ उपयोग नहीं होता। वह निष्प्राण ही बना रहता है, इसलिए श्रद्धा के बिना सत्य, धर्म, कर्म निष्प्राण बना रहता है। यही अभिप्राय है ऋग्वेद की इस ऋचा का। एक और ऋचा भी इस प्रकार पठनीय है :-

श्रद्धां देवा यजमाना, वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदये याकूत्याः श्रद्धया विन्दते वसु।।

(10/151-4)

(यजमानाः) ध्यान-यज्ञ करते हुए (देवा) दिव्य योगजन (वायुगोपा) प्राणायाम द्वारा सुरक्षित हुए या निज इन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए श्रद्धा को धारण करते हुए परमात्मा की उपासना करते हैं। (हृदयाकूत्या) हृदय-निष्ठ होकर श्रद्धा द्वारा ही हृदय में बसे हुए ब्रह्म को उपासक प्राप्त करता है।

तीसरी ऋचा भी यहाँ उल्लेखनीय है। इसमें श्रद्धा की उपयोगिता का वर्णन इस प्रकार हुआ है-

श्रद्धां प्रातर्हवामहे, श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि, श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।

(10/151-5)

श्रद्धा का प्रातःकाल हम आह्वान करते हैं, श्रद्धा का मध्यकाल में सब कामों में हम आह्वान करते हैं। सूर्य के अस्त हो जाने पर हम श्रद्धा का आह्वान करते हैं। हे श्रद्धा ! तू हमें (सब कालों में) श्रद्धावान् बनाये रखना।

कितना ऊँचा भाव है—श्रद्धा के प्रति इन उपर्युक्त तीनों ऋग्वेद की ऋचाओं में। श्रद्धा सर्वत्र

सर्वकाल हमारे हृदय में समायी रहेगी तो निःसन्देह हमारे सभी कार्य हमें ऊर्ध्वगति प्रदान करते रहेंगे।

श्रद्धा शब्द श्रत्+धा के योग से बना है। **'श्रत'** का अर्थ है सत्य और **'धा'** का अर्थ होता है धारण करना। सत्य को धारण करने की जो मनोवृत्ति या झुकाव होता है, उसी को श्रद्धा नाम से इङ्गित किया जाता है। योगी अपनी आत्मा में स्थित परमसत्य परमेश्वर का साक्षात्कार करना चाहता है, यह साक्षात्कार उसे श्रद्धामय मनोवृत्ति का सहारा लिए बिना नहीं हो सकता। अतः आध्यात्मिक जीवन की सफलता के लिए श्रद्धावान बनने की अनिवार्यता की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

निष्कल ब्रह्म की जिन अनगिन शक्तियों से ब्रह्माण्ड का संचालन होता रहता है वे सभी मातृ-स्वरूपा हैं। शक्तिमान भले ही संसार के साधारण जनों से अदृश्य बना रहे किन्तु शक्ति माता तो विविध रूपों से प्रकट होकर हमें सदा सहारा देती ही रहती है। कीर्ति, सरस्वती, लक्ष्मी के समान श्रद्धा भी शक्तिमान की ही शक्ति है जो हमें शक्तिमान से मिला देने में अपना सहयोग प्रदान करती है। इसीलिए मातेश्वरी भवानी के रूप में भी इसे स्थापित किया गया है। यथा :-

भवानी शङ्करो वन्दे, श्रद्धा विश्वास रूपिणी।

X X X

छान्दोग्य उपनिषद् में भी श्रद्धा को ही परम सुख के आगार-भूमा पुरुष के साक्षात्कार करने में प्रमुख साधन बताया गया है। ऋषि का कथन है कि श्रद्धा के बिना न तो पारलौकिक ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है और न भौतिक चिन्तन, मनन, लेखन क्रिया, यज्ञ, हवन, अनुष्ठान आदि यह सब श्रद्धा के आधार बिना फलदायी हो ही नहीं पाते हैं।

गुरु-शिष्य सम्बन्धों को भी सुखद बनाने में श्रद्धा सेतु रूप में सहायक होती है। बिना श्रद्धा का आश्रय लिए शिष्य को गुरु-कृपा प्राप्त नहीं हो पाती। आओ ऐसी महिमा-मयी श्रद्धा-माता को हम सब सदा अपने मन मन्दिर में समाहित कर लेने का व्रत लें।

पारमार्थिक मार्ग में साधक को सांसारिक अनुकूलता (धन, मान, बड़ाई आदि) तभी तक बाधक प्रतीत होती है, जब तक उसमें सांसारिक सुख की कुछ भी इच्छा या रुचि विद्यमान है।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

संकलनकर्त्ताः कुमारी सम्पदा शर्मा (बड़ोदा)

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।

कर्म क्या है, अकर्म क्या है? इस विषय में बुद्धिमानों को भी भ्रम होता है। इसलिए मैं तुझे बताऊँगा कि कर्म कैसे करना चाहिए। इसे जान कर तू अशुभ से बचेगा।

* * * * * * *

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है, वह मनुष्यों में सच्चा ज्ञानी है। वह सब कर्मों को करता हुआ भी योगी है।

* * * * * * *

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।

जो मनुष्य त्याग-भाव से कर्म करता है, जिसने ज्ञान के द्वारा संशय को छिन्न कर डाला है और जो सदैव अपने आत्मा के प्रति जागृत रहता है, उसे कर्म नहीं बांधते।

* * * * * * *

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।

जो योग के मार्ग पर चलता है, जिसका हृदय शुद्ध हो गया है, जिसने अपने और अपनी इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली और जिसका भूत-मात्र से एकात्म्य हो गया है, वह कर्म करता हुआ भी उससे अलिप्त रहता है।

* * * * * * *

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।

कामना से उत्पन्न हुए कर्मों के त्याग को ज्ञानी संन्यास के नाम से जानते हैं। समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं।

* * * * * * *

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।

देहधारी देह का भार वहन करता हुआ कर्म का सर्वथा त्याग कभी नहीं कर सकता। जो कर्म फल का त्याग करने में सफल हो जाता है, उसका काम पूरा हो जाता है और वह त्यागी कहलाता है।

* * * * * * *

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

तेरा कर्तव्य केवल कर्म करना है, उसके फल की चिन्ता करना कदापि नहीं, इसलिए, कर्म का फल तेरा हेतु न हो, कर्म न करने का भी तुझे आग्रह न हो।

* * * * * * *

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः।।

इसलिए तू उचित कर्म कर। कर्म न करने से कर्म करना ही अधिक अच्छा है। कर्म के बिना जीवन का निर्वाह भी सम्भव नहीं है।

* * * * * * *

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।

मनुष्य कर्म-बन्धन में तभी पड़ता है जब वह यज्ञ की भावना को छोड़ कर अन्य भावना से कर्म करता है, इसीलिए तू आसक्ति छोड़कर यज्ञ की भावना से कर्म कर।

साधक ऐसा माने कि मैं जो कुछ करता हूँ भगवान की पूजा है और जो कुछ हो रहा है, वह भगवान की लीला है।

गुरु और अवतार

अब भविष्य में जब कभी तुम किसी मनुष्य को अवतार पूजा के विरुद्ध बड़ा विद्वत्तापूर्ण भाषण देते हुए सुनो, तो सीधे उसके पास चले जाना और पूछना कि उसकी ईश्वर सम्बन्धी अपनी धारणा क्या है, 'सर्वशक्तिमान' 'सर्वव्यापी' आदि शब्दों का उच्चारण करने से वह शब्द-ध्वनि के अतिरिक्त और क्या समझता है ?-तो देखोगे, वास्तव में वह कुछ नहीं समझता। वह उनका ऐसा कोई अर्थ नहीं लगा सकता, जो उसकी अपनी मानवी प्रकृति से प्रभावित न हो। इस बात में उसमें और रास्ता चलने वाले एक अपढ़ गँवार में कोई अन्तर नहीं। फिर भी वह अपढ़ व्यक्ति कहीं अच्छा है, क्योंकि कम से कम वह शान्त तो रहता है, वह संसार की शान्ति को तो भंग नहीं करता पर यह लम्बी लम्बी बातें करने वाला व्यक्ति मनुष्य-जाति में अशान्ति और दुःख पैदा कर देता है। धर्म का अर्थ है प्रत्यक्ष अनुभूति। अतएव इस अपरोक्ष अनुभूति और थोथी बात के बीच जो विशेष भेद है, उसे हमें अच्छी तरह पकड़ लेना चाहिए। आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश में हम जो अनुभव करते हैं, वही प्रत्यक्षानुभूति है। इस सम्बन्ध में सहज बुद्धि जितनी अ-सहज (दुर्लभ) है, उतनी और कोई वस्तु नहीं।

हम अपनी वर्तमान प्रकृति से सीमित हो ईश्वर को केवल मनुष्य-रूप में ही देख सकते हैं। मान लो, भैंसों की इच्छा भगवान् की उपासना करने की हो-तो वे अपने स्वभाव के अनुसार भगवान को एक बड़े भैंसे के रूप में देखेंगे। यदि एक मछली भगवान् की उपासना करनी चाहे, तो उसे भगवान् को एक बड़ी मछली के रूप में सोचना होगा। इसी प्रकार मनुष्य भी भगवान् को मनुष्य-रूप में देखता है। यह न सोचना कि ये सब विभिन्न धारणाएँ केवल विकृत कल्पनाओं से उत्पन्न हुई हैं। मनुष्य, भैंसा, मछली-ये सब मानो भिन्न भिन्न बरतन है, ये सब बरतन अपनी अपनी आकृति और जल-धारण-शक्ति के अनुसार ईश्वररूपी समुद्र के पास अपने को भरने के लिए जाते हैं। पानी मनुष्य में मनुष्य का रूप ले लेता है, भैंसे में भैंसे का और मछली में मछली का। प्रत्येक बरतन में वही ईश्वररूपी समुद्र का जल है। जब मनुष्य ईश्वर को देखता है, तो वह उसे मनुष्य-रूप में देखता है। और यदि पशुओं में ईश्वर सम्बन्धी कोई ज्ञान हो, तो वे उन्हें अपनी अपनी धारणा के अनुसार पशु के रूप में देखेंगे। अतः हम ईश्वर को मनुष्य-रूप के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में देख ही नहीं सकते और इसलिए हमें मनुष्य रूप में ही उसकी उपासना करनी पड़ेगी। इसके सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं है।

दो प्रकार के लोग ईश्वर की मनुष्य-रूप में उपासना नहीं करते। एक तो नरपशु, जिसे धर्म का कोई ज्ञान नहीं और दूसरे परमहंस, जो मानव जाति की सारी दुर्बलताओं के ऊपर उठ चुके हैं और जो अपनी मानवीय प्रकृति की सीमा के परे चले गये हैं। उनके लिए सारी प्रकृति आत्मस्वरूप हो गयी है। वे ही ईश्वर को उसके वास्तविक स्वरूप में भज सकते हैं। अन्य विषयों के समान यहाँ भी दोनों चरम भाव से ही दिखते हैं। अतिशय अज्ञानी और परम ज्ञानी, दोनों ही उपासना नहीं करते। नरपशु अज्ञानवश उपासना नहीं करता, और जीवन्मुक्त अपनी आत्मा में परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने के कारण। इन दो चरम भावों के बीच में रहने वाला कोई मनुष्य यदि आकर तुमसे कहे कि वह भगवान् को मनुष्यरूप में भजने वाला नहीं है, तो उस पर रहम करना। उसे अधिक क्या कहें, वह बस, थोथी बकवास करने वाला है। उसका धर्म अविकसित और खोखली बुद्धिवालों के लिए है।

जीवन-दर्शन

स्वामी दर्शनानन्द के उपदेश

□ जिस धारणवती बुद्धि से परमात्मा को देखा जाता है, जब तक वह बुद्धि उत्पन्न न हो तब तक परमात्मा को कोई भी नहीं जान सकता। यह बुद्धि वेदादि शास्त्रों के पढ़ने से प्राप्त होती है। सत्पुरुषों के सत्संग से सुलभ होती है।

× × ×

□ विद्वान और सुशिक्षित व्यक्ति तो अनागत भविष्य के लिये ही पुरुषार्थ करते हैं परन्तु मूर्ख व्यक्ति केवल वर्तमान के लिए।

× × ×

□ जो कर्म का पका हुआ फल है उसको बदलने की शक्ति किसी में नहीं। उसको बदलने के लिए परिश्रम करना आयु को व्यर्थ खोना है।

× × ×

□ जिस प्रकार हमें किसी मकान पर चढ़ने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु गिरने के लिए तनिक पैर फिसल जाना ही बहुत है, किसी श्रम की आवश्यकता ही नहीं, इसी प्रकार मनुष्य को धर्म के ऊँचे शिखर पर चढ़ने के लिए श्रम की आवश्यकता पड़ती है अधर्म तो स्वमेव हो जाता है।

× × ×

□ अच्छे और बुरे दो मार्गों से इच्छा की प्रवृत्ति होती है। तुम्हारा काम केवल इच्छा को बुरे मार्ग से रोककर अच्छे मार्ग में चलाना है।

× × ×

□ जब जीव ज्ञान के अनुसार कर्म करता है तो उसको सुख होता है। और जब वह कर्म को मुख्य मानकर ज्ञान को पीछे रखता है तो उसे दुःख होता है। जैसे जब मनुष्य मार्ग देखकर चलता है तो ठोकर नहीं खाता और जो देखकर नहीं चलता वह प्रायः ठोकर खाता है। अतः अज्ञानपूर्वक किया गया काम ही दुःख का हेतु है।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008 AUGUST 1997

प्रेषण कार्यालय :—

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book Post

श्री ______________________

क्षणिक ज्ञान

लोहा जब तक तपाया जाता है, तब तक लाल रहता है, लेकिन जब बाहर निकाल लिया जाता है, तब काला पड़ जाता है। यही दशा सांसारिक मनुष्यों की भी है। जब वे मन्दिरों में अथवा अच्छी संगति में बैठते हैं, तब तक उनमें धार्मिक विचार भी रहते हैं, किन्तु जब वे उनसे अलग हो जाते हैं तब वे फिर धार्मिक विचारों को भूल जाते हैं।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय भवानन्द शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलां, लालगंज, आगरा केलिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिन्टिंग वर्क्स, चौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326